महर्षि पतञ्जलि ऋषि
प्रणीत

योग-दर्शनम्

सरल हिन्दी भाषा में

मूल सूत्र, शब्दार्थ तथा भावार्थ
सहित

ज्ञानेश्वरार्यः
M. A. दर्शनाचार्य

प्रकाशक
दर्शन योग महाविद्यालय
आर्य वन, रोजड़, पत्रालय-सागपुर,
जि.-साबरकांठा, (गुजरात) पिन - ३८३३०७
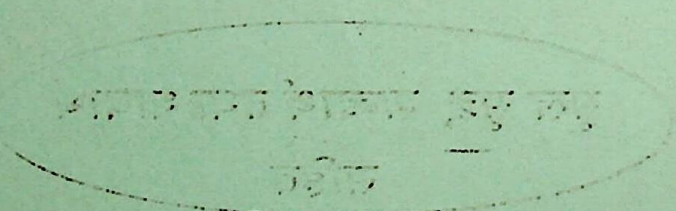
॥ ओ३म् ॥

महर्षि पतञ्जलि ऋषि
प्रणीत
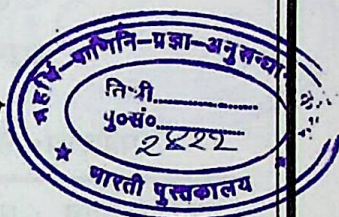
योग दर्शनम्

(सरल हिन्दी भाषा में)

मूल सूत्र, शब्दार्थ तथा भावार्थ
सहित

ईश्वर प्राप्ति का सम्पूर्ण विधि-विधान

ज्ञानेश्वरार्यः
M.A., दर्शनाचार्य

दर्शन योग महाविद्यालय
आर्य वन, रोजड़ पो. सागपुर,
जि. साबरकांठा, (गुजरात) ३८३३०७

१११११११७

दूरभाष : (०२७७४) ७७२१७ (०२७७०) ८७४१७, ८७६१७
वानप्रस्थ साधक आश्रम : (०२७७०) ८७५४८
E-mail : darshanyog@icenet.net

मुख्य वितरक

आर्य रणसिंह यादव

द्वारा-डॉ. सद्गुणा आर्या

'सम्यक्'

पत्रालय-गांधी ग्राम, जूनागढ़ (गुजरात) ३६२००१

प्रकाशन तिथि : श्रावण २०५९ विक्रमी, अगस्त २००२

संस्करण : सप्तम सृष्टि संवत् १,९६,०८,५३,१०३

✤ प्राप्ति स्थान ✤

१. **आर्य समाज मन्दिर**, महर्षि दयानन्द मार्ग,
रायपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद (गुजरात) ३८००२२.

२. **गोविन्दराम हासानन्द**, ४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६.

३. **मधुर प्रकाशन**, आर्य समाज, बाजार सीताराम, दिल्ली-६.

४. **आर्य प्रकाशन**, ८१४, कुण्डेनवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-६.

५. **चौखम्बा ओरीयेन्टलिया**,
९, यु.बी. बंग्लो रोड, पोस्ट बोक्ष नं. २२०६, दिल्ली-७.

६. **आर्य समाज गांधीधाम**,
महर्षि दयानन्द मार्ग, झंडा चौक, गांधीधाम, कच्छ, गुजरात-३७०२०१.

७. **आर्य समाज मन्दिर**, टंकारा, जि. राजकोट (गुजरात).

८. **आर्य समाज मन्दिर**, महर्षि दयानन्द मार्ग, पोरबन्दर, गुजरात.

९. **आर्य समाज मन्दिर**, महर्षि दयानन्द मार्ग, हाथी खाना, राजकोट, गुजरात.

१०. **आर्य समाज मन्दिर**, दत्त अपार्टमेन्ट, मकरपुरा रोड, वडोदरा, गुजरात.

११. **आर्य समाज मन्दिर**, नवाडेरा, भरूच-३९२००१.

१२. **आर्य समाज मन्दिर**, लखधीरवास, मोरबी, जि. राजकोट (गुजरात).

१३. **आर्य समाज मन्दिर**, दातार रोड, जूनागढ़ (गुजरात) ३६२ ००१.

१४. **आर्य समाज मन्दिर**, स्टेशन रोड, आणंद, जि. खेडा (गुजरात).

१५. **श्री अरविन्द राणा**, ७९१/डी/३, पंचशील मार्ग, सैक्टर-२१, गांधीनगर.

१६. **आर्य रणसिंह यादव**, पो. : खेड़ी खुमार, जि. झज्जर, हरिणाया-१२४१०३

लागत व्यय : ८/- रुपये

मुद्रक : आकृति प्रिन्टर्स, अहमदाबाद फोन : २७६०४६७

भूमिका

मनुष्य ने चाहे कितनी ही भाषाओं, विद्याओं, कलाओं को सीख लिया हो; कितनी ही उपाधियों, यश, प्रतिष्ठा, धन-ऐश्वर्य को क्यों न प्राप्त कर लिया हो; जीवन पथ पर रोग, अभाव, विश्वासघात, हानि, वियोग, अपमान, अन्याय से सम्बन्धित दुःख आ ही जाते हैं । ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में मनुष्य चिन्तित, निराश एवं अशान्त हो जाता है । सारी आशाएँ तथा कल्पनाएँ नष्ट हो जाती हैं, सब कुछ अन्धकारमय दिखाई देता है । घटनाओं से सम्बन्धित विचारों पर नियंत्रण न रख पाने के कारण मनुष्य अत्यन्त क्षुब्ध अथवा पागल सा हो जाता है । कोई भी समाधान न प्राप्त कर सकने के कारण उत्पन्न हुए महादुःख से बचने के लिए वह कुएँ में गिरकर, विष खाकर, मिट्टी का तेल डाल-आग लगाकर, गाड़ी के नीचे आकर, फाँसी के फन्दे पर लटककर या अन्य किसी प्रकार से जीवन को ही समाप्त करने की सोचता है और कर भी लेता है । अथवा क्रोध के वशीभूत होकर दूसरों का बहुत बड़ा अनिष्ट कर देता है, फिर चाहे परिणाम स्वरूप जीवन भर पश्चात्ताप की अग्नि में क्यों न जलना पड़े या जेल के बन्धन का जीवन क्यों न काटना पड़े ।

मन में उठने वाले इन प्रतिकूल विचारों को रोकने में यदि व्यक्ति समर्थ हो अथवा इन विचारों से प्रभावित न हो, अथवा इन समस्याओं का यथोचित समाधान निकाल ले, तो वह उपर्युक्त सभी अनर्थों से बच सकता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष आदि मानसिक रोग ऐसे हैं, जिनका समाधान धन-सम्पत्ति से कदापि संभव नहीं हो सकता । इन सब रोगों का समाधान तो आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अध्यात्मविद्या को पढ़, सुन, समझ तथा व्यवहार में लाने से ही सम्भव है । मनुष्यों के कल्याणार्थ इन अध्यात्म विद्याओं का वर्णन हमारे पूज्य ऋषियों ने अपने दर्शनों में विस्तार से किया है ।

सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर यह निष्कर्ष स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि दर्शनो में वर्णित आत्मा, परमात्मा, मन, बुद्धि, संस्कार, दोष, कर्म, कर्म-फल, पुनर्जन्म, बन्धन-मुक्ति, सुख-दुःख आदि सूक्ष्म तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को न समझने के कारण ही आज सम्पूर्ण मानव समाज में हिंसा झूठ, छल कपट, चोरी जारी तथा अन्य नैतिक दोष उत्पन्न हो गये हैं । यदि मनुष्य शरीर, मन, इंद्रियों के पीछे इन सबके नियंत्रक चेतन तत्त्व 'आत्मा' को तथा दृश्यमान विशाल ब्रह्माण्ड के पीछे विद्यमान अदृश्य, नियंत्रक चेतन तत्त्व 'परमात्मा' को जान ले, तो विश्व की सारी समस्याएँ सरलता से दूर हो जायें ।

वैदिक काल में मन इन्द्रियों को रोककर आत्म-साक्षात्कार करने की इस क्रिया का इतना अधिक महत्त्व था कि पाँच वर्ष का छोटा सा बालक जब गुरुकुल में पढ़ने जाता था तब से ही आचार्य उसे प्रातःकाल ब्रह्म-मुहूर्त में उठाकर, एकान्त-शान्त स्थान में बिठाकर, आसन लगवाकर, आँखे बन्द कराकर, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि लगाने जैसी सूक्ष्म क्रियाएँ सिखाना प्रारंभ कर देता था जैसे कि ऋषि मुनि लोग स्वयं किया करते थे । यह क्रिया मृत्यु पर्यन्त चलती

रहती थीं, चाहे वह अभ्यासी किसी भी आश्रम में क्यों न हो, किसी भी व्यवसाय को क्यों न करता हो।

योग दर्शन में इस क्रिया को 'योग' (=समाधि=उपासना) नाम से कहा गया है। जीवात्मा चेतन है = ज्ञानी है, कर्ता है = मन आदि जड़ पदार्थों का चालक है। जो मनुष्य अपने मन को समस्त सांसारिक विषयों से हटाकर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, निराकार, पवित्र तथा आनन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थित कर लेता है, वह समस्त शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से रहित हो जाता है और ईश्वर से ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भयता, स्वतंत्रता आदि गुणों को प्राप्त करता है। यही योगसाधना का फल है।

इसी योगाभ्यास से ही व्यक्ति अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण करके जिस विषय पर मन को लगाना चाहता है, लगा देता है, और जिस विषय से मन को हटाना चाहता है, हटा लेता है। मन को नियंत्रण में रखने से ही वह प्रसन्न रहता है। योगाभ्यासी की एकाग्रता बढती है, स्मृति-शक्ति विकसित होती है तथा बुद्धि सूक्ष्म होती है। इन सब आध्यात्मिक सम्पत्तियों से उसके सारे कार्य सफल होते हैं। योगाभ्यासी अपने मन में विद्यमान काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि के कुसंस्कारों को स्पष्ट रूप से अनुभव करके, उनको विविध उपायों से नष्ट करने में सफल हो जाता है। इन्हीं संस्कारों की विद्यमानता के कारण वह अनिष्ट कार्यों को करके दुःखों को प्राप्त होता है।

समस्त दुःखों से निवृत्ति, मुक्ति प्राप्त कर लेने पर ही होती है। मुक्ति अविद्या के संस्कारों के नष्ट होने पर संभव है। अविद्या के संस्कार ईश्वर साक्षात्कार के बिना नष्ट नहीं हो सकते, और ईश्वर साक्षात्कार समाधि के बिना नहीं हो सकता। समाधि चित्तवृत्तिनिरोध का नाम है। चित्तवृत्तियों का निरोध यम-नियम आदि योग के आठ अङ्गों का पालन करने से होता है। इन यम-नियमों से लेकर समाधि और आगे मुक्ति तथा अन्य समस्त साधकों व बाधकों का सम्पूर्ण विधि विधान इस दर्शन में विद्यमान है। हमारा सौभाग्य है कि आज भी हमें महर्षि पतञ्जलि जैसे महान् ऋषियों का सन्देश मोक्ष-प्राप्ति करने-कराने के लिए उपलब्ध है।

देश के विभिन्न प्रान्तों में, पूज्य गुरुवर्य श्री स्वामी सत्यपतिजी महाराज, क्रियात्मक योग प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन करते रहते हैं। उन शिविरों में संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ, जन-सामान्य को आर्ष सिद्धान्तों के अनुकूल, संक्षिप्त तथा सरल सूत्रार्थ व भावार्थ सहित, हिन्दी भाषा में योग दर्शन की पुस्तिका की अपेक्षा रहती है, ऐसा हमने भी अनुभव किया। इसी संदर्भ में अनेक योग जिज्ञासुओं ने कई बार हम से अनुरोध भी किया कि उपर्युक्त प्रकार की कोई छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित की जाये, जिससे शिविरों में भाग लेने वाले तथा अन्य स्वाध्यायशील जन भी वैदिक योग के स्वरूप को समझ सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह लघु प्रयास है।

- ज्ञानेश्वरार्यः

।। सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः ।।

- योगदर्शनम् -

प्रथमः समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ।।१।।

[अथ] अधिकार अर्थात् किसी विषयको प्रारंभ करके अन्त तक उसका वर्णन करना [योगानुशासनम्] समाधिशास्त्र ।

अब योग जिज्ञासुओं के कल्याणार्थ, योगविद्या के स्वरूप को बतानेवाले शास्त्र का प्रारंभ किया जाता है । ईश्वर ने इस विद्या का उपदेश वेद के माध्यम से किया है । वेद की यह विद्या ऋषि परम्परा से हमारे पास पहुंची है ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।२।।

[योगः] समाधि (है), [चित्तवृत्तिनिरोधः] मन के विचारों को रोक देना ।

योगदर्शन में चित्त और मन एक ही वस्तु हैं, और वह जड वस्तु है । इस चित्त में विभिन्न प्रकार के चित्र बनते रहते हैं । ये चित्र सांसारिक विषयों से सम्बन्धित होते हैं, इन्हीं को चित्त की वृत्तियाँ कहते हैं । ये वृत्तियाँ जीवात्मा ही अपनी इच्छा से बनाता है, और स्वयं ही अपनी इच्छा और प्रयत्न से रोक भी लेता है । जब वह बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के विचारों को रोक देता हैं तो इस अवस्था को 'चित्तवृत्तिनिरोध' कहते है । यही समाधि कहलाती है । समाधि दो प्रकार की होती है, एक सम्प्रज्ञात और दूसरी असम्प्रज्ञात । ईश्वर का साक्षात्कार असम्प्रज्ञात समाधि में होता हैं । सम्प्रज्ञात में नहीं ।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।।३।।

[तदा] तब [द्रष्टुः] द्रष्टा के [स्वरूपे] स्वरूपमें [अवस्थानम्] (जीवात्मा की) स्थिति हो जाती है ।

मन की वृत्तियों के पूर्णतया रुक जाने पर अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में जीवात्मा अपने स्वरूप सहित ईश्वर के आनन्द में निमग्न हो

जाता है। अर्थात् उस अवस्था में जीवात्मा स्वयं को भी जानता है और ईश्वर को जानकर उसका आनन्द भी प्राप्त करता है। जीवात्मा को ईश्वर के साथ साथ अपने स्वरूप की अनुभूति असम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्व अवस्था में होती है.प्रारम्भिक अवस्था में तो केवल ईश्वर की ही अनुभूति होती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

[वृत्तिसारूप्यम्] (जीवात्मा) वृत्तियों के समान अपने स्वरूप को समझने वाला होता है [इतरत्र] समाधि से भिन्न (= सांसारिक व्यवहार की) अवस्था में।

समाधि से भिन्न अवस्था में सामान्य मनुष्य अपने को तथा वृत्तियों को एक ही समझता है, भिन्न-भिन्न नहीं समझता। जैसे धन, पुत्र, परिवार, मकान आदि की हानि को देखकर उसे अपनी (आत्मा की) हानि समझता है। जब कि उपर्युक्त वस्तुएँ नष्ट हो जाने से आत्मा नष्ट नहीं होता।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥५॥

[वृत्तयः] वृत्तियाँ [पञ्चतय्यः] पाँच प्रकार की हैं [क्लिष्टाऽक्लिष्टाः] दुःख देने वाली और सुख देने वाली।

सब जीवों के मन में पाँच प्रकार की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इन वृत्तियों में प्रत्येक के दो-दो भेद हैं। जो वृत्तियाँ जीव को सत्य, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, परोपकार तथा ईश्वर की ओर ले जाती हैं, वे सुखदायक हैं। इन्हें अक्लिष्ट वृत्तियाँ कहते हैं। और जो वृत्तियाँ असत्य, अधर्म, अज्ञान, स्वार्थ, विषयभोग की ओर ले जाती हैं, वे दुःखदायक हैं। इन्हें क्लिष्ट वृत्तियाँ कहते हैं।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥६॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं, जिनका वर्णन आगे के सूत्रों में किया जावेगा। ये पाँचों वृत्तियाँ समाधि में बाधक होती हैं। इन्हीं पाँच वृत्तियों को रोकने का नाम समाधि है। इन वृत्तियों के रहते हुए समाधि संभव नहीं है।

प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमाः प्रमाणानि ॥७॥

[प्रत्यक्षानुमानागमाः] प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन [प्रमाणानि] प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण तथा आगम प्रमाण, प्रमाणवृत्ति के तीन विभाग हैं ।

१. 'प्रत्यक्ष' उसको कहते हैं कि जो नेत्रादि इन्द्रियों तथा रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से भ्रम और संशय रहित सत्य ज्ञान उत्पन्न हो ।
२. 'अनुमान' उसको कहते हैं कि जहाँ आपस में सम्बद्ध दो पदार्थों में से एक को देखकर दूसरे परोक्ष पदार्थ का ज्ञान हो जाये । यथा धुएँ को देखकर परोक्ष अग्नि का ज्ञान ।
३. 'आगम' अर्थात् शब्द प्रमाण आप्तों के उपदेश को कहते हैं । आप्त उसे कहते हैं जिसने प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से किसी वस्तु को ठीक-ठीक जानकर अन्यों के कल्याण के लिए उपदेश किया हो । जैसे किसी आप्त व्यक्ति ने कहा कि ब्रह्मचर्य का पालन तथा व्यायाम करने से शारीरिक शक्ति बढती है । यह वचन आगम प्रमाण है ।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

[विपर्ययः] विपर्ययवृत्ति [मिथ्याज्ञानम्] मिथ्याज्ञान है [अतद्रूपप्रतिष्ठम्] जो वस्तु के स्वरूप में यथार्थरूप में स्थित नहीं होता ।

उल्टे ज्ञान का नाम विपर्यय वृत्ति है । अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा न समझकर कुछ अन्य प्रकार की समझ लेना इसीको मिथ्याज्ञान कहते हैं । जैसे अन्धेरे में रस्सी को साँप समझ लेना, वैसे ही जड़ मन को चेतन मान लेना तथा निराकार ईश्वर को साकार मान लेना भी विपर्यय वृत्ति कहलाती है ।

शब्दज्ञानाऽनुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

[शब्दज्ञानानुपाती] शब्दज्ञान के अनुसार उत्पन्न होनेवाली [वस्तुशून्यः] वस्तु से रहित [विकल्पः] विकल्पवृत्ति है ।

जिसका शब्द तो हो किन्तु उस शब्द का अर्थ (=पदार्थ) किसी को न मिले । ऐसे शब्द को सुनकर उत्पन्न होनेवाली वृत्ति को विकल्पवृत्ति कहते हैं । जैसे आकाश का फूल, खरगोश का सींग, वन्ध्या का पुत्र ।

अभावप्रत्ययाऽऽलम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

[अभावप्रत्ययाऽऽलम्बना] अभाव की प्रतीति का आश्रय करनेवाली [वृत्तिः] चित्त की वृत्ति [निद्रा] निद्रा कही जाती है ।

जाग्रत और स्वप्नावस्था का अभाव हो जाने पर जो विशेष प्रकार का ज्ञान (=अनुभव) होता है; उस ज्ञान के सहारे रहने वाली वृत्ति का नाम निद्रा है । उस काल में (=निद्रा में) विशेष प्रकार का अनुभव यह होता हैं "मैं सुखपूर्वक सोया", "मैं दुःखपूर्वक सोया" आदि । क्योंकि निद्राकाल में भी सुख-दुःख आदि का अनुभवरूपी ज्ञान होता है इसलिए निद्रा को भी वृत्ति कहा है ।

अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ।।११।।

[अनुभूत-विषयाऽसम्प्रमोषः] अनुभव किये विषयों का न भूलना (=चित्त में उपस्थित हो जाना) [स्मृतिः] स्मृति नामक वृत्ति है ।

अनुभव किये = भोगे हुए रूप, रस, गन्ध आदि विषय वाले पदार्थों को न भूलना (=उनकी याद आ जाना) स्मृति वृत्ति कहलाती है । अर्थात् जिस किसी वस्तु या क्रिया को पहले हम अनुभव कर चुके हैं, उसका संस्कार मन में बना रहता है, उचित अवसर पाकर उस संस्कार के कारण पूर्व देखी सुनी वस्तु चित्त में पुनः उपस्थित हो जाती है (याद आ जाती है) । इसी को स्मृति वृत्ति कहते हैं ।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।।१२।।

[अभ्यासवैराग्याभ्याम्] अभ्यास और वैराग्य से [तन्निरोधः] उन (चित्त की पाँचों वृतियों) को रोका जाता है ।

वैराग्य से विषय भोगों को भोगने की इच्छा कमजोर की जाती है, और अभ्यास से वैराग्य सहित अपनी स्थिति को दृढ़ और उन्नत किया जाता है । इस प्रकार इन दोनों के माध्यम से पूर्वोक्त पाँचों वृत्तियों को रोका जा सकता है ।

वास्तव में उपर्युक्त दोनों उपायों से विशेष प्रगति तभी हो पाती है जब इनसे पूर्व विवेक प्राप्त हो जाये । विवेक का अर्थ है, ईश्वर-जीव-प्रकृति को व्यावहारिक रूप से पृथक्-पृथक् समझना । इसका संकेत दूसरे पाद के २६ वें सूत्र तथा भाष्य में विवेकख्याति नाम से किया गया है ।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः १३।।

[तत्र] अभ्यास और वैराग्य में से [स्थितौ] चित्त की एकाग्रता के लिए जो [यत्नः]प्रयत्न किया जाता है वह [अभ्यासः] अभ्यास कहाता है ।

मन को एकाग्र करने के लिए (=समाधि प्राप्त करने के लिये) जो प्रयास

किया जाता है, वह अभ्यास कहाता है। अर्थात् यम-नियम-आसन आदि योग के अङ्गों का बारबार अनुष्ठान करना 'अभ्यास' है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।।१४।।

[स तु]वह(अभ्यास) तो [दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितः] लम्बे काल तक, लगातार, श्रद्धापूर्वक सेवन किया हुआ(-आचरण में लाया हुआ) [दृढभूमिः] दृढ़ अवस्था वाला बनता है।

जो अभ्यास लम्बे समय तक, लगातार, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य, विद्या तथा तपस्या पूर्वक आचरण में लाया जाता है,वह पक्का हो जाता है और साधक को अपने लक्ष्य तक पहुँचा देता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।।१५।।

[दृष्ट-आनुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य] अनुभव किये हुए और सुने हुए विषयों की तृष्णा से रहित योगी की [वशीकार संज्ञा] मन पर वशीकरण की अनुभूति [वैराग्यम्] (अपर) वैराग्य कहा जाता है।

१. दृष्टविषय-जिन विषयों को हम इसी जीवन में देख (=अनुभव कर) लेते हैं, जैसे रूप, रस आदि विषय वाली वस्तुएँ अर्थात् फल, मिठाई, वस्त्र, मकान, दिल्ली, बम्बई आदि।
२. आनुश्रविकविषय - वेदादि शास्त्रों तथा आचार्यों के माध्यम से सुने हुए विषय, जैसे स्वर्गप्राप्ति आदि। इन दोनों विषयों के प्रति जब चित्त में कोई इच्छा नहीं रहती और चित्त पर पूर्ण वशीत्व (=अधिकार) की अनुभूति होती है, इस अवस्था को अपर वैराग्य कहते हैं। अगले सूत्र में पर वैराग्य का लक्षण कहा है, उसकी अपेक्षा से इसका नाम अपर वैराग्य है। यह वैराग्य सम्प्रज्ञात समाधि का कारण है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।।१६।।

[तत्परम्] वह ऊँचा वैराग्य है [पुरुषख्यातेः] परमात्मा के ज्ञान से [गुणवैतृष्ण्यम्] गुणों के प्रति भी इच्छा से रहित हो जाना।

परमात्मा का ज्ञान होने से योगी की सत्त्व, रज और तम, तीनों गुणों में तृष्णा हट जाती है। इस अवस्था को परवैराग्य कहते हैं। इसी का फल असम्प्रज्ञात समाधि होता है।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥१७॥

[वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मिता-रूपाऽनुगमात्] वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता रूपी स्थितियों के अनुभव से [सम्प्रज्ञातः] सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है ।

१. वितर्क-जिसमें पृथ्वी आदि पाँच स्थूल भूतों को जानने के लिए चित्त एकाग्र किया जाता है, वह वितर्क नामक सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है ।
२. विचार-तन्मात्राओं का (=सूक्ष्म भूतों का) साक्षात्कार जिस अवस्था में हो, वह विचार नामक सम्प्रज्ञात समाधि है ।
३. आनन्द-जिसमें इन्द्रियाँ चित्त के साक्षात्कार का विषय बनती हैं, उसे आनन्द नामक सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं ।
४. अस्मिता-मुख्य रूप से आत्मा का साक्षात्कार जिस अवस्था में हो, वह अस्मिता नामक सम्प्रज्ञात समाधि है ।

सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज और सालम्बन समाधि नाम से भी कहा जाता है ।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

[विराम-प्रत्यय-अभ्यास-पूर्वः] वृत्तियों के निरोध के कारण (पर वैराग्य का) बार बार अभ्यास करने पर [संस्कारशेषः] जिसमें संस्कार ही शेष रहें (वृत्तियाँ नहीं उभरती) वह [अन्यः] (सम्प्रज्ञात से) भिन्न (=असम्प्रज्ञात) समाधि कहलाती है ।

जब सम्प्रज्ञात समाधि में बतायी गयी समस्त वस्तुओं का ज्ञान रोक दिया जाता है, उनके संस्कार चित्त में बने रहते हैं, और पर वैराग्य का अभ्यास करते करते योगी केवल परमात्मा की ही अनुभूति (=साक्षात्कार) करता है; उस अवस्था का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है । इसे निर्बीज और निरालम्बन समाधि भी कहते हैं ।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

[भवप्रत्ययः] भवप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात समाधि [विदेहप्रकृतिलयानाम्] विदेह और प्रकृतिलय नामक योगियों की होती है ।

विदेह=देह (=शरीर) में रहते हुए भी देह के अभिमान से रहित । प्रकृतिलय-प्रकृति के स्वरूप को जानकर अपने चित्त को प्रकृति में लीन कर

देने (चित्त से भोगों की इच्छाएँ हटा लेने) वाले योगियों की 'भवप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि होती है। भव=संसार, प्रत्यय=ज्ञान। जो असम्प्रज्ञात समाधि संसार की घटनाओं (=रोग, वियोग, मृत्यु आदि) को देखकर उत्पन्न हुए वैराग्य से प्राप्त होती है, उसे 'भवप्रत्यय' समाधि कहते हैं।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

[श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः] श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक [इतरेषाम्] (विदेह तथा प्रकृतिलय नामक योगियों से) भिन्न योगियों की (उपाय प्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात समाधि होती है)।

श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा, इन उपायों से जो समाधि प्राप्त होती है, वह 'उपाय प्रत्यय' नामक 'असम्प्रज्ञात' समाधि होती है।

१. श्रद्धा-योग के प्रति अत्यन्त रुचि,
२. वीर्य-रुचि से उत्साह का उत्पन्न होना,
३. स्मृति-योग के क्षेत्र में सहायता देनेवाली क्रियाओं को सदा स्मरण रखना,
४. समाधि-चित्त का एकाग्र होना (सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति),
५. प्रज्ञा-समाधि से ऋतम्भरा प्रज्ञा का उत्पन्न होना (उससे परवैराग्य और परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि का होना)।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

[तीव्रसंवेगानाम्] ऊँचे वैराग्य और अभ्यासवालों को [आसन्नः] शीघ्र (समाधि प्राप्त होती है)।

ऊँचे विवेक, वैराग्य, अभ्यास वाले योगाभ्यासियों को समाधि और उसका फल-आनन्द, ज्ञान आदि शीघ्र ही प्राप्त होते हैं।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

[मृदुमध्याधिमात्रत्वात्] निम्न, मध्य और उच्च स्तरवाला होने से [ततोऽपि] उससे भी [विशेषः] शीघ्र (समाधि लाभ होता है)।

पूर्वोक्त ऊँचे साधन वाले योगियों में भी मन्द गतिवाला, मध्य गतिवाला तथा अधिक गतिवाला होने से एक दूसरे की अपेक्षा जल्दी समाधि अवस्था को प्राप्त करता है।

ईश्वरप्रणिधानाद् वा ।।२३।।

[ईश्वरप्रणिधानाद्] ईश्वर प्रणिधान से [वा] और पूर्वोक्त विवेक-वैराग्य-अभ्यास के साथ ईश्वर-प्रणिधान को भी जोड़ देने से और अधिक शीघ्र समाधि की अवस्था प्राप्त होती है ।

ईश्वरप्रणिधान = ईश्वर में भक्ति विशेष होना, अर्थात् ईश्वर से अधिक प्रिय किसी को नहीं मानना, प्रत्येक कर्म ईश्वर को समर्पित करना, ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल ही आचरण करना आदि ईश्वरप्रणिधान कहलाता है ।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।।२४।।

[क्लेशकर्मविपाकाशयैः] क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से [अपरामृष्टः] सर्वथा रहित (=अछूता) [पुरुष-विशेषः] (=जीवों से भिन्न) [ईश्वरः] ईश्वर है ।

१. क्लेश-अविद्या आदि पाँच क्लेश (देखें, यो.द.-सूत्र २/३)

२. कर्म-शुभ, अशुभ और मिश्रित = तीन प्रकार के कर्म (सकाम)

३. विपाक-उन कर्मों का सुख-दुःखरूपी फल

४. आशय-उन कर्मों और सुख-दुःख रूपी फलों की वासनाएँ (=संस्कार) ।

ईश्वर जीवों से भिन्न है तथा उपर्युक्त क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से बिलकुल अलग है । अर्थात् ईश्वर कभी भी क्लेश कर्म आदि के सम्पर्क में नहीं आता, जीव लोग तो इनके सम्पर्क में आते हैं और छूटते रहते हैं ।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।।२५।।

[तत्र] उस (ईश्वर) में [निरतिशयम्] जिससे अधिक और न हो (=सबसे अधिक) [सर्वज्ञबीजम्] सर्वज्ञता का कारण (=ज्ञान) है ।

ईश्वर में इतना ज्ञान है कि उसके बराबर या उससे अधिक ज्ञान किसी में भी नहीं हो सकता अर्थात् ईश्वर सर्वज्ञ है । जबकि जीव अल्पज्ञ और प्रकृति अज्ञ (=जड़) है ।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।।२६।।

[स एषः] वह यह (ईश्वर) [पूर्वेषाम् अपि] पूर्व गुरुओं(ऋषियों, महर्षियों) का भी [गुरुः] गुरु है [कालेन] काल के द्वारा [अनवच्छेदात्] नष्ट न होने से ।

ईश्वर प्रदत्त ज्ञान को प्राप्त करके ही कोई शरीरधारी व्यक्ति गुरु बनने

में समर्थ होता है, इसलिए वह परमेश्वर सृष्टि के आदि से लेकर अब तक जितने भी ऋषि, महर्षि, आचार्य, अध्यापक, उपदेशक इत्यादि गुरु हुए हैं तथा जो आगे होंगे, उन सबका भी गुरु है। क्योंकि वह काल से कभी नष्ट नहीं होता, वह अमर है। इसी प्रकार से वह पिछली सृष्टियों में भी सबका गुरु था और आगे आने वाली सृष्टियों में भी सबका गुरु रहेगा।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥

[तस्य] उस (ईश्वर) का [वाचकः] नाम (=संज्ञा) [प्रणवः] ओम् है।
उस ईश्वर का वाचक=बताने वाला शब्द=नाम प्रणव=ओम् है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

[तज्जपः] उस ओम् शब्द का जप [और] [तदर्थ-भावनम्] उसके अर्थ (=ईश्वर) का चिन्तन (=ध्यान) करना चाहिए।

उस ओम् शब्द का जप करना (=बारबार दोहराना) चाहिए और उसके अर्थ का (=ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव का) मन में विचार करना चाहिए।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥२९॥

[ततः] ईश्वर प्रणिधान सहित ओम् के जप और अर्थ चिन्तनसे [प्रत्येक्चेतनाऽधिगमः] अन्तरात्मा का साक्षात्कार होता है [अपि] भी [अन्तरायाऽभावः] (योग के) विघ्नों का अभाव होता है [च] और।

उस ओम् शब्द का जप करने तथा उसके अर्थ (=ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव)का विचार करने से ईश्वर का साक्षात्कार होता है तथा योग के विघ्नों (=बाधकों) का विनाश होता है।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थित्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

[व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रान्तिदर्शन-अलब्ध-भूमिकत्व - अनवस्थितत्वानि] ये नौ [चित्तविक्षेपाः] चित्त की एकाग्रता को भंग करने वाले हैं [ते] वे [अन्तरायाः] (योग के) बाधक (=शत्रु) हैं।

१. व्याधि-धातुओं(=वात, पित्त आदि) की विषमता से शरीर में ज्वरादि पीड़ा का होना।

२. स्त्यान-सन्ध्या-उपासना आदि शुभ कर्मों से जी चुराना (=जान बूझकर न करना) ।
३. संशय-किसी वस्तु के बारे में दो प्रकार का ज्ञान होना, अर्थात् अमुक वस्तु ऐसी है, अथवा ऐसी नहीं है । जैसे आत्मा अमर है, अथवा मर जाता है ।
४. प्रमाद-समाधि के साधनों (=यम-नियम आदि) को भूल जाना या लापरवाही करना ।
५. आलस्य-शरीर तथा मन के भारी होने से योग साधना में पुरुषार्थ न कर सकना ।
६. अविरति-मन में रूप, रस आदि विषयों को भोगने की इच्छा का बना रहना ।
७. भ्रान्तिदर्शन-उल्टाज्ञान होना, यथा जड़ को चेतन, चेतन को जड़ मानना ।
८. अलब्धभूमिकत्व-समाधि की प्राप्ति न होना ।
९. अनवस्थितत्व-समाधि प्राप्त होने पर पुनः छूट जाना (=समाधि में चित्त को स्थिर न कर पाना ।)

ये उपर्युक्त योग के विघ्न हैं अर्थात् चित्त की एकाग्रता को भंग करने वाले शत्रु हैं ।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।।३१।।

[दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः] दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास (ये) [विक्षेपसहभुवः] पूर्वोक्त चित्त के विक्षेपों के साथ रहते हैं ।

१. दुःख-तीन प्रकार के दुःख (= आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ।
२. दौर्मनस्य-इच्छा की पूर्ति न होने पर मन का खिन्न हो जाना ।
३. अङ्गमेजयत्व-शरीर के अङ्गों का कांपना ।
४. श्वासप्रवास-श्वासप्रश्वास का अनियंत्रित रूप से चलना ।

उपर्युक्त पाँचों योग के उपविघ्न हैं । विघ्नों के उपस्थित होने पर ये भी उपस्थित हो जाते हैं ।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाऽभ्यासः ।।३२।।

[तत्प्रतिषेधार्थम्] उन विघ्नों को हटाने या रोकने के लिए [एकतत्त्वाऽभ्यासः] एक तत्त्व=वस्तु(=ईश्वर) का ध्यान करना चाहिए ।

उपर्युक्त योग के विघ्नों के विनाश के लिए एक पदार्थ(=ईश्वर) का अभ्यास(=उपासना या ध्यान) करना चाहिए । वही उन विघ्नों के नाश के लिए वज्ररूप शस्त्र है ।

मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।।३३।।

[मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाणाम्] मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षा की [सुख-दुःख-पुण्य-अपुण्यविषयाणाम्] सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा तथा पापात्मा पुरुष विषयक (क्रमशः) [भावनातः] भावना(= व्यवहार करने) से [चित्तप्रसादनम्] मन की प्रसन्नता होती है ।

सुखी(= साधन सम्पन्न) व्यक्तियों के साथ मित्रता, दुःखी लोगों के प्रति दया, पुण्यात्माओं (धार्मिक, विद्वान्, परोपकारी लोगों) को देख कर प्रसन्न होना और पापियों के प्रति उपेक्षा (न राग, न द्वेष) की भावना(=व्यवहार) करने से योगाभ्यासी का मन प्रसन्न रहता है और प्रसन्न मन एकाग्रता=स्थिरता को प्राप्त होता है ।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।।३४।।

[प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम्] बाहर निकलने तथा रोकने (की क्रिया) से [प्राणस्य] प्राण की [वा] अथवा (मन की एकाग्रता होती है) ।

शरीर में स्थित वायु को नासिका द्वार से बाहर निकाल कर उसको सुखपूर्वक, ज़ितने काल तक रोका जा सके, उतने काल तक बाहर रोकने से मन स्थिरता को प्राप्त होता है । इसी प्रकार प्राण भीतर रोकने से भी मन एकाग्र होता है ।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।।३५।।

[विषयवती] गन्ध आदि विषय वाली [वा] अथवा [प्रवृत्तिः] चित्त की वृत्ति [उत्पन्ना] उत्पन्न हुई हुई [मनसः] मन की [स्थितिनिबन्धनी] एकाग्रता का कारण होती है ।

मन की एकाग्रता उत्पन्न करने के लिए दिव्यरूप, दिव्यरस आदि विषयों का अभ्यास करने से मनकी स्थिति धीरे धीरे एकाग्र बनने लगती हैं ।

विशोका वा ज्योतिष्मती ।।३६।।

[विशोका] शोक रहित [वा] [ज्योतिष्मती] मन की प्रकाशवाली

(सत्त्वगुणप्रधान) प्रवृत्ति, (मन को एकाग्र करती है) ।

चित्त के शोक रहित अर्थात् सत्त्वगुणयुक्त = शान्त व निर्मल हो जाने से भी मन एकाग्र अवस्था को प्राप्त हो जाता है ।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ।।३७।।

[वीतरागविषयम्] राग रहित योगियों के विषयवाला [वा] अथवा [चित्तम्] चित्त (एकाग्र हो जाता है) ।

वीतराग योगियों के चरित्र(=व्यवहार) को विषय बनाने वाला चित्त भी एकाग्र(=स्थिर) हो जाता है ।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ।।३८।।

[स्वप्न-निद्राज्ञान-आलम्बनम्] स्वप्नज्ञान तथा निद्राज्ञान का आलम्बन करने वाला चित्त भी [वा] अथवा (एकाग्र हो जाता है) ।

मनोहर-सात्त्विक स्वप्न का तथा सात्त्विक निद्रा के ज्ञान का आलम्बन-ध्यान करने से भी मन एकाग्र (= स्थिर) हो जाता है ।

यथाभिमतध्यानाद्वा ।।३९।।

[यथा-अभिमत-ध्यानात्] अपनी इच्छा अनुकूल (शास्त्र सम्मत) किसी अन्य वस्तुका ध्यान करने से [वा] अथवा (भी मन एकाग्र हो जाता है) ।

उपर्युक्त जितने भी मन को एकाग्र करने के साधन बताये हैं. उनमें से किसी भी साधन का प्रयोग करने से अथवा शास्त्र सम्मत अपनी इच्छा के अनुकूल किसी अन्य पदार्थ का ध्यान करने से मन की एकाग्रता होती है ।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।।४०।।

[परमाणु-परममहत्त्वान्तः] छोटे से छोटे और बड़े से बड़े पदार्थ तक [अस्य] इस चित्त का [वशीकारः] नियंत्रण किया जाना संभव है ।

अभ्यास करते करते योगी की ऐसी योग्यता बन जाती है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु=परमाणु तथा स्थूल से स्थूल वस्तु=सूर्य आदि में अपने मन को स्थिर कर लेता है ।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।।४१।।

[क्षीणवृत्तेः] क्षीणवृत्तिवाले (चित्त की) [अभिजातस्य इव-मणेः] मणि के

समान स्वच्छ (=निर्मल) हुए (चित्तकी) [ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु] ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य पदार्थों के सम्पर्क में [तत्स्थतदञ्जनता] स्थिर होकर, चित्त का उन उन पदार्थों के आकार में भासित होना [समापत्तिः] समापत्ति है (तदाकार प्राप्ति है) ।

राजसिक और तामसिक वृत्तियाँ समाप्त हो गई हैं जिसकी, ऐसा चित्त नई मणि के समान स्वच्छ-निर्मल हो जाता है । और वह चित्त ग्रहीता=जीवात्मा, ग्रहण=इन्द्रियाँ तथा ग्राह्य=स्थूल व सूक्ष्म भूतों के सम्पर्क में स्थित होकर, उस उस वस्तु के समान रूप-आकारवाला प्रतीत होता है । इसे समापत्ति कहते हैं ।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।।४२।।

[तत्र] उनमें (= समापत्तियों में) से [शब्दार्थज्ञानविकल्पैः] शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों प्रकारों से [संकीर्णाः] सहित (=युक्त) [सवितर्का] सवितर्का नामक [समापत्तिः] है ।

पूर्व सूत्र में वर्णित समापत्ति का पहला भेद वह है कि जिस समाधि में कोई गौ आदि अर्थ, 'शब्द', 'अर्थ' (=वस्तु) तथा 'ज्ञान' इन तीनों प्रकारों से युक्त होता है, तो उसे सवितर्का समापत्ति कहते हैं ।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।।४३।।

[स्मृतिपरिशुद्धौ] स्मृति के हट जाने पर [स्वरूपशून्या इव] अपने ग्रहणात्मक स्वरूप से शून्य हुई सी [अर्थमात्रनिर्भासा] केवल अर्थ का ज्ञान कराने वाली (चित्त की स्थिति) [निर्वितर्का] निर्वितर्का (नामक समापत्ति है) ।

सवितर्का समापत्ति में तीन वस्तुएँ थीं, शब्द, अर्थ और ज्ञान । इस निर्वितर्का में उन तीन में से दो वस्तुएँ (शब्द और ज्ञान) गौण हो जाती हैं; केवल अर्थ (=वस्तु) ही विशेष रूप से दीखती है । चित्त की ऐसी अवस्था का नाम निर्वितर्का समापत्ति है ।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।।४४।।

[एतया-एव] इससे ही (सवितर्का, निर्वितर्का के वर्णन से ही) [सविचारा निर्विचारा च] सविचारा तथा निर्विचारा (नामक समापत्तियाँ) [सूक्ष्मविषया] सूक्ष्मविषय वाली [व्याख्याता] समझ लेनी चाहिएँ ।

जैसे सवितर्का में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान थे, वैसे ही सविचारा में भी शब्द. अर्थ और ज्ञान होते हैं । जैसे निर्वितर्का में केवल अर्थ था वैसे ही

निर्विचारा में भी केवल अर्थ (=वस्तु) होता है। भेद केवल इतना ही है कि पूर्व सूत्र में कही दो समापत्तियों का ध्येय विषय स्थूल (=पृथ्वी आदि भूत) था, किन्तु इस सूत्र में वर्णित समापत्तियों का ध्येय विषय सूक्ष्म (=तन्मात्राएँ इन्द्रियाँ आदि) होता है।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

[सूक्ष्मविषयत्वम्] सूक्ष्मविषयता [च] और [अलिङ्गपर्यवसानम्] प्रकृति पर्यन्त होती है।

पूर्व सूत्र में वर्णित सविचारा, निर्विचारा समापत्तियों का ध्येय विषय 'सूक्ष्म' बताया था। वह सूक्ष्म विषयता तन्मात्राओं से लेकर मूल प्रकृति (=सत्त्व, रज, तम) तक होती है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

[ताः] वे चारों समापत्तियाँ [एव] ही [सबीजः] आलम्बन सहित [समाधिः] समाधि हैं।

पूर्व सूत्र में वर्णित चारों समापत्तियाँ आलम्बन वाली हैं। आलम्बन से अभिप्राय है कि इन समाधियों का विषय भौतिक पदार्थ और जीवात्मा होता है, अर्थात् ये सम्प्रज्ञात समाधियाँ हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

[निर्विचारवैशारद्ये] निर्विचार समापत्ति के और अधिक निर्मल (=दृढ़ =उन्नत) हो जाने पर (योगी को) [अध्यात्मप्रसादः] आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति होती है।

निर्विचार समापत्ति के उन्नत हो जाने पर योगी का आध्यात्मिक ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में वह स्वयं को क्लेशों से रहित और सांसारिक व्यक्तियों को क्लेशों से पीड़ित अनुभव करता है। जैसे कोई व्यक्ति पहाड़ की चोटी पर खड़ा होकर स्वयं को सुरक्षित और नीचे घाटी में रहने वाले लोगों को कष्टों से पीड़ित देखता है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥४८॥

[ऋतम्भरा] ऋतम्भरा [तत्र] उस अवस्था में [प्रज्ञा] बुद्धि (होती है)।

निर्विचार समाधि के उन्नत होने पर योगी की ऋतम्भरा नामक बुद्धि उत्पन्न

होती है । इस बुद्धि का नाम इसके कार्य के अनुसार ही होता है, अर्थात् ऋतम् = सत्य को, भरा = धारण करने वाली ।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥४९॥

[श्रुताऽनुमान-प्रज्ञाभ्याम्] शब्द और अनुमान प्रमाण से उत्पन्न हुए ज्ञान से [अन्यविषया] भिन्न विषय वाली (= प्रत्यक्ष विषय वाली वह बुद्धि होती है) [विशेषार्थत्वात्] विशेष अर्थवाली होने से (= वस्तु का विशेष स्वरूप दिखाने वाली होने से) ।

शब्द और अनुमान प्रमाण से प्राप्त हुआ ज्ञान वस्तु का सामान्य बोध कराता है, जबकि ऋतम्भरा प्रज्ञा वस्तु का विशेष बोध कराती है, क्योंकि यह वस्तु का विशेष प्रत्यक्ष कराने वाली होती है । वस्तु का विशेष ज्ञान कराना ही इस ऋतम्भरा प्रज्ञा का मुख्य प्रयोजन होता है ।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

[तज्जः संस्कारः] उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुआ संस्कार [अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी] व्युत्थान अवस्था के (= लौकिक) संस्कारों का विरोधी होता है ।

ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्राप्त हो जाने पर योगी का उस बुद्धि से अध्यात्मविषयक संस्कार उत्पन्न होता है और वह संस्कार अन्य लौकिक संस्कारों का विरोधी (= नाश करने वाला) होता है ।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

[तस्याऽपि] उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों को भी [निरोधे] रोक दिये जाने पर [सर्वनिरोधात्] सब प्रकार की चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने से [निर्बीजः] आलम्बनरहित (= असम्प्रज्ञात) [समाधिः] समाधि होती है ।

उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न सब संस्कारों को तथा सब प्रकार की वृत्तियों को रोक देने पर निर्बीज (= आलम्बन रहित = असम्प्रज्ञात) समाधि सिद्ध होती है । अर्थात् इस समाधि में केवल ईश्वर ही विषय होता है, जीवात्मा और भौतिक पदार्थ इस समाधि का विषय नहीं होते ।

इस समाधि के उच्च अभ्यास से व्यक्ति अपने अविद्या के संस्कारों को दग्धबीजभाव अवस्था तक ले जाकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । संक्षेप में विवेकख्याति

से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक की प्रक्रिया निम्न प्रकार से समझनी चाहिए-सर्व प्रथम विवेकख्याति प्राप्त होती है, इसके पश्चात् अपर वैराग्य, पुनः सम्प्रज्ञात समाधि, तत्पश्चात् परवैराग्य, इसके बाद असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। असम्प्रज्ञात समाधि की उच्च अवस्था में लौकिक संस्कारों की दग्धबीज भाव अवस्था होती है। इस अवस्था में व्यक्ति जीवन मुक्त हो जाता है, अर्थात् जीवित रहते हुए भी वह मोक्ष सुख जैसा अनुभव करता है। शरीर छूट जाने पर वह व्यक्ति (=आत्मा) नितान्त मुक्त हो जाता है।

इति प्रथमः पादः

द्वितीयः साधनपादः

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

[तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि] तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, (ये तीन) [क्रियायोगः] क्रियाएँ योग (का साधन) हैं ।

१. **तप**=सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, हानि-लाभ, मान-अपमान, सुख-दुख आदि द्वन्द्वों को सहना;

२. **स्वाध्याय**=मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन तथा ओम् का जप;

३. **ईश्वरप्रणिधान**= सर्वव्यापक, सर्वज्ञ ईश्वर मुझे देख रहा है,यह भावना मन में बनाकर प्रत्येक कार्य को ईश्वर के सामने समर्पित करना और उसका लौकिक फल न चाहना, उपर्युक्त तीन क्रियाएँ योग का साधन हैं ।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

[समाधिभावनार्थः] समाधि की सिद्धि करवाने के लिए [क्लेशतनूकरणार्थः] क्लेशों को कमजोर करने के लिए [च] और

पूर्व सूत्रमें बतायी गयीं तीन क्रियाएँ समाधि को उत्पन्न करने के लिए तथा अविद्या आदि क्लेशों को कमजोर करने के लिए हैं ।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥३॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं, इन्हीं को विपर्यय अथवा मिथ्याज्ञान कहते हैं । इन्हीं के कारण जीव को दुःख प्राप्त होता है, इसलिए इनका नाम क्लेश है ।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

[अविद्या] मिथ्याज्ञान [क्षेत्रम्] उत्पत्ति स्थान है (=कारण है) [उत्तरेषाम्] बाद वालों का (प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्] प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदारों का ।

अविद्या, बाद में कहे गये (=अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) क्लेशों की जननी है । ये क्लेश चार अवस्थाओं वाले होते हैं - १ प्रसुप्त=सोये हुए,

२ तनु=दुर्बल=क्षीण हुए हुए, ३. विच्छिन्न=एक काल में एक दूसरे से दबे हुए और ४. उदार=वर्तमान में जो प्रवृत्त हैं अर्थात् पूरे वेग से भोगों को भुगवाने में कार्यरत रहते हैं। इन क्लेशों की पाँचवी दग्धबीजभाव अवस्था भी होती हैं। वह केवल उसी योगी में होती है, जो तत्त्वज्ञान को विशेषरूप से प्राप्त कर चुका हो और मुक्ति में जाने वाला हो।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।।५।।

[अनित्य-अशुचि-दुःख-अनात्मसु] अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में (क्रमशः) [नित्य-शुचि-सुख-आत्मख्यातिः] नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा का ज्ञान होना [अविद्या] मिथ्याज्ञान है।

(१) अनित्य शरीर व संसार को नित्य समझना और नित्य ईश्वर तथा आत्मा को अनित्य समझना, (२) अपवित्र=मलमूत्रादि से परिपूर्ण शरीर में पवित्र बुद्धि और सत्य, विद्या, धर्म, सत्संग आदि में अपवित्र बुद्धि करना; (३) काम, क्रोध, लोभ, आदि दुःखरूप व्यवहारों में (=विषय भोगों में) पूर्ण तथा स्थाई सुख मिलने की आशा करना एवं शम, दम, सन्तोष आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःख बुद्धि करना, (४) शरीर, मन आदि जड़ वस्तुओं को चेतन समझना तथा जो पुत्र-स्त्री आदि हमारी आत्मा से भिन्न हैं, उन्हें अपनी आत्मा का अंश समझना। उनकी हानि को देखकर अपनी आत्मा की हानि तथा उनकी वृद्धि देखकर अपनी आत्मा की वृद्धि समझना एवं ईश्वर तथा जीव जो चेतन हैं, उनको जड़ समझना; यह चार प्रकार की अविद्या है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।।६।।

[दृग्दर्शनशक्त्योः] दृक्शक्ति तथा दर्शनशक्ति का [एकात्मता] एकरूपता (=एकपन) [इव] जैसा (प्रतीत होना = मानना) [अस्मिता] अस्मिता नामक क्लेश है।

दृक्शक्ति = जीव, दर्शनशक्ति = बुद्धि है। ज्ञान का अनुभव करने वाला कर्त्ता=जीव, तथा जिस साधन से ज्ञान का अनुभव होता है वह उपकरण=बुद्धि, इन दोनों को एक समझना अस्मिता नामक क्लेश है।

सुखानुशयी रागः ।।७।।

[सुखानुशयी] सुख भोगने के बाद अन्तःकरण में रहने वाली इच्छा, तृष्णा,

लोभ [रागः] राग नामक क्लेश है ।

सुख को भोगने से सुख के संस्कार बनते हैं । उनकी स्मृति से सुख के साधनों को पुनः प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है । उस तृष्णा का होना राग नामक क्लेश कहलाता है ।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥८॥

[दुःखानुशयी] दुःख भोगने के पश्चात् अन्तःकरण में रहनेवाला क्रोध, रोष [द्वेषः] द्वेष नामक क्लेश है ।

दुःख को भोगने से दुःख के संस्कार बनते हैं । उनकी स्मृति से दुःख और दुःख के साधनों पर प्रतिकार करने = हटाने की भावना से क्रोध करना द्वेष नामक क्लेश है ।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोभिनिवेशः ॥९॥

[स्वरसवाही] अपने संस्कारों के कारण स्वभाव से रहनेवाला, (विदुषः) विद्वान के (चित्त में) [अपि] भी [तथा] उसी प्रकार (= समान रूप से) [आरूढः] प्राप्त हुआ [अभिनिवेशः] अभिनिवेश नामक क्लेश कहा जाता है ।

"मैं मरुं नहीं" ऐसे स्वरूप वाला जो मृत्यु का भय है, वह अभिनिवेश नामक क्लेश है । यह अपने संस्कारों के कारण स्वभाव से प्रत्येक प्राणी में रहता है । यह क्लेश शाब्दिक विद्वान् को भी वैसे ही दुःख देता है, जैसे कीट पतङ्ग को ।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१०॥

[ते] वे क्लेश [प्रतिप्रसवहेयाः] समाप्त करने योग्य हैं [सूक्ष्माः] क्षीण किये हुए ।

वे क्रियायोग से कमजोर बनाये हुए पाँचों क्लेश अपने आश्रय चित्त के साथ ही दग्धबीज भाव को प्राप्त = (नष्ट) हो जाते हैं ।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥११॥

[ध्यानहेयाः] ध्यान = विवेकख्याति द्वारा नष्ट करने योग्य हैं [तद्वृत्तयः] वे क्लेशों की वृत्तियाँ ।

उन अविद्या आदि क्लेशों की वृत्तियाँ, ध्यान के द्वारा = विवेकख्याति

से (= ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के पृथक्-पृथक् ज्ञान से) नष्ट करनी चाहिएँ ।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।।१२।।

[क्लेशमूलः] अविद्या आदि क्लेश मूल है [कर्माशयः] कर्मों के समुदाय का (जो) [दृष्ट-अदृष्ट जन्मवेदनीयः] वर्तमान और आनेवाले (भावी) जन्म में भोगने योग्य हैं ।

उन अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न होने वाला पुण्य-अपुण्य स्वरूप कर्म-समुदाय वर्तमान जन्म में और भावी जन्म में फल देने वाला होता है अर्थात् फल की अनुभूति कराने वाला होता है ।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।।१३।।

[सति] होने पर [मूले] मूल के (अविद्या आदि क्लेशों के) [तद्विपाकः] उस कर्मसमुदाय का फल [जातिआयुः-भोगाः] जाति, आयु और भोग (रूप में मिलता है) ।

जब तक व्यक्ति में अविद्या आदि क्लेश रहते हैं, तब तक उन अविद्या आदि क्लेशों से प्रेरित होकर, वह जो भी अच्छे-बुरे कर्म करता है, उन कर्मों का फल जाति, आयु और भोग रूप में मिलता है ।

१. जाति = मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट आदि शरीर,
२. आयु = उस शरीर के अनुसार जीवन काल,
३. भोग = उस शरीर के अनुसार योग्य पदार्थ अर्थात् घास, अन्न, फल, माँस आदि खाद्य पदार्थ तथा घर, मोटर आदि ।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।।१४।।

[ते] वे (जाति, आयु और भोग) [ह्लादपरितापफलाः] सुख और दुःख रूपी फल वाले होते हैं [पुण्य-अपुण्य-हेतुत्त्वात्] पुण्य और पाप कर्मों से उत्पन्न होने के कारण ।

वे जाति, आयु और भोग, शुभ और अशुभ कर्मों से उत्पन्न होने के कारण सुख और दुःख रूपी फल वाले होते हैं । अर्थात् पुण्य कर्मों से मनुष्य के सुखदायक जाति, आयु और भोग मिलते हैं । पाप कर्मों से पशु, पक्षी, आदि के दुःखदायक जाति, आयु और भोग मिलते है ।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

[परिणामतापसंस्कारदुःखैः] परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःखों से [गुणवृत्तिविरोधात्] सत्त्व, रज, तम गुणों की वृत्तियों (= स्वभाव) के परस्पर विरोध से [च] तथा [दुःखम् एव] दुःख ही है [सर्वम्] सब कुछ [विवेकिनः] विवेकी [= योगी] पुरुष का (के लिए) ।

परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख तथा सत्त्वादि गुणों की वृत्तियों [= स्वभाव] के परस्पर विरोध से विवेकी = योगी को संसार के सभी पदार्थ दुःखमय दीखते हैं ।

१. **परिणामदुःख**– विषय भोगों को भोगने के पश्चात् उनमें तृष्णा कम नहीं होती बल्कि बढ़ जाती है । इससे व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है । यह दुःख भोगों को भोगने के परिणाम स्वरूप होता है इसलिए इसे परिणाम दुःख कहते हैं ।

२. **तापदुःख**– विषय भोगों से प्राप्त होने वाले सुखों में अनेक प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं । इन बाधाओं से व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है, इसे तापदुःख कहते हैं ।

३. **संस्कारदुःख**– सुख भोगने से सुख के संस्कार बनते हैं । उन संस्कारों से प्रेरित होकर व्यक्ति पुनः उस सुख को प्राप्त करना चाहता है । किन्हीं कारणों से वह सुख उसे पुनः नहीं मिलता, थोड़ा मिलता है, देरी से मिलता है, अधिक मूल्य से मिलता है, प्राप्त होकर भी नष्ट हो जाता है, तब उसे दुःख होता है । यह दुःख संस्कारों के कारण से होता है । इसलिए इसे संस्कार दुःख कहते हैं ।

४. **गुणवृत्तिविरोधदुःख**– सात्त्विक प्रवृत्तियों (= दया, सेवा, परोपकार आदि) तथा राजसिक, तामसिक प्रवृत्तियों (= चोरी, झूठ, छल, कपट आदि) में परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने से टकराव होता है, इनके टकराव से व्यक्ति की मानसिक स्थिति अशान्त (= खिन्न) हो जाती है, जिससे व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है । यह दुःख सत्त्व, रज, तम गुणों के परस्पर विरुद्ध स्वभाव के कारण होता है, इसलिए इसे गुणवृत्तिविरोधदुःख कहते हैं ।

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥

[हेयम्] दूर करने योग्य है [दुःखम्] दुःख [अनागतम्] आगे आने वाला (भविष्य से सम्बन्धित) ।

आगे (= भविष्य में) आने वाले दुःख को ही दूर करना चाहिए = किया जा सकता है, भूतकाल के दुःख को नहीं ।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।।१७।।

[द्रष्टृदृश्ययोः] द्रष्टा और दृश्य का [संयोगः] परस्पर संयुक्त होना [हेयहेतुः] दुःख का कारण है ।

द्रष्टा=जीव तथा दृश्य=प्रकृति(से बने पदार्थों) का परस्पर संयोग होना ही दुःख का कारण है ।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।।१८।।

[प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्] प्रकाश, क्रिया, तथा स्थिति स्वभाव वाला [भूतेन्द्रियात्मकम्] भूत और इन्द्रिय स्वरूप वाला [भोगापवर्गार्थम्] भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन वाला [दृश्यम्] दृश्य (जगत्) है ।

यह दृश्य अर्थात् प्रकृति से बना संसार त्रिगुणात्मक है । संसार की प्रत्येक वस्तु इन तीनों गुणों से मिलकर ही बनती है । इन तीन गुणों के नाम सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण हैं । सत्त्वगुण का स्वभाव प्रकाश है, रजोगुण का क्रिया तथा तमोगुण का स्थिति । इस जगत् के दो रूप हैं । एक भूतात्मक, दूसरा इन्द्रियात्मक । भूतात्मक पदार्थों के अन्तर्गत पाँच स्थूलभूत तथा पाँच सूक्ष्मभूत (= तन्मात्र) आते हैं । और इन्द्रियात्मक पदार्थों के अन्तर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन, एक अहंकार तथा एक बुद्धि आती है । इस जगत् के दो प्रयोजन अर्थात् उद्देश्य हैं, एक जीवों को भोग (= रूप रस, गन्ध आदि विषयों का अनुभव) कराना तथा दूसरा अपवर्ग (= मुक्ति को प्राप्त कराना) ।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।।१९।।

[विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि] विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग ये [गुणपर्वाणि] गुणों (=सत्त्व, रज, तम) के पर्व (=विभाग अथवा अवस्थाएँ) हैं ।

गुणों के चार विभाग हैं (१) विशेष = पाँच स्थूल भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन (२) अविशेष = पाँच तन्मात्र (= स्थूल भूतों के उपादान कारण) तथा अहंकार (३) लिङ्गमात्र = महतत्त्व (= बुद्धि) (४) अलिङ्ग = मूल प्रकृति अर्थात् सत्त्व, रज और तम ।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।।२०।।

[द्रष्टा] देखने वाला [दृशिमात्रः] देखने की शक्तिरूप है [शुद्धोऽपि] निर्मल = निर्विकार होता हुआ भी [प्रत्ययाऽनुपश्यः] वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है ।

द्रष्टा अर्थात् चेतनतत्त्व = जीव केवल देखने की शक्ति स्वरूप वाला ही है; किसी भी प्रकार के विकार से रहित शुद्ध है । इसकी बुद्धि में जैसे चित्र उतरते हैं, अर्थात् बुद्धि जिन विषयों को जिस रूप में प्रस्तुत करती है, उनको वह उसी रूप में जानता है ।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ।।२१।।

[तदर्थः] उसके (= जीव के) लिए [एव] ही [दृश्यस्य] दृश्य = जगत् का [आत्मा] स्वरूप (अस्तित्व) है ।

इस जीव को भोग और अपवर्ग प्राप्त कराने हेतु ही प्रकृति से बना संसार है ।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।।२२।।

[कृतार्थं प्रति] जिस आत्मा का प्रयोजन (= भोग और अपवर्ग) सिद्ध हो गया है, उसके लिए [नष्टम् अपि] नष्ट हुआ जैसा भी (जगत्) [अनष्टम्] नष्ट नहीं होता [तदन्यसाधारणत्वात्] कृतार्थ से अन्य बद्ध आत्माओं के लिए साधारण रूप से उपयोगी होने के कारण ।

एक मुक्त आत्मा के प्रति बुद्धि आदि कार्य – जगत् निष्प्रयोजन होता हुआ भी अन्य बद्ध आत्माओं के लिए निष्प्रयोजन नहीं होता, क्योंकि उनका तो भोग तथा अपवर्ग रूपी प्रयोजन शेष बना रहता है ।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ।।२३।।

[स्वस्वामिशक्त्योः] स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के [स्वरूपोपलब्धिहेतुः] स्वरूपों की उपलब्धि का जो हेतु है, वह [संयोग] संयोग है ।

स्वशक्ति है दृश्य (= भोग्य संसार), स्वामिशक्ति है भोक्ता जीवात्मा, इन दोनों के स्वरूपों की उपलब्धि का कारण संयोग है । अर्थात् पुरुष (= स्वामी) दृश्य (= स्व) के साथ संसार का भोग करने के लिए सम्बद्ध हो जाता है, इसी का नाम संयोग है ।

तस्य हेतुरविद्या ।।२४।।

[तस्य] उस (संयोग) का [हेतुः] कारण [अविद्या] अविद्या (=मिथ्याज्ञान) है ।

द्रष्टा = जीवात्मा तथा दृश्य = जगत् के संयोग का कारण अविद्या है (देखें सूत्र २/५) ।

तदभावात्संयोगाऽभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।।२५।।

[तद् अभावात्] उस अविद्या के अभाव से [संयोगाऽभावः] संयोग का अभाव (= न रहना) [हानम्] हान है [तद् दृशेः] वह द्रष्टा-आत्मा का [कैवल्यम्] मोक्ष है ।

उस अविद्या के नष्ट हो जाने पर द्रष्टा तथा दृश्य के संयोग का भी अभाव हो जाता है, इस स्थिति को हान नाम से कहते हैं । यह हान (= दुःख से छूटना) ही द्रष्टा = जीव का मोक्ष है ।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।।२६।।

[विवेकख्यातिः] प्रकृति तथा पुरुष (= जीव और ईश्वर) के भेद का ज्ञान होना [अविप्लवा] अस्थिरता आदि दोष रहित (= स्थिर, दृढ़) [हानोपायः] हान का उपाय है ।

ईश्वर, जीव और प्रकृति को अलग-अलग, यथार्थ रूप से जान लेना हान अर्थात् दुःख का नाश करने का उपाय है । इन तीनों तत्त्वों का यथार्थज्ञान स्थिर (दृढ़ = न छूटनेवाला) होना चाहिए ।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।।२७।।

[तस्य] उस (योगी) की [सप्तधा] सात प्रकार की [प्रान्तभूमिः] उत्कृष्ट अवस्थावाली [प्रज्ञा] बुद्धि होती है ।

उस विवेक ख्याति को प्राप्त कर लेने वाले योगी की सात प्रकार की उत्कृष्ट स्तर वाली अनुभूति होती है । वह सात प्रकार की अनुभूति निम्नलिखित है —

१. छोड़ने योग्य दुःख को पूरी तरह से जान लिया है ।
२. दुःख के कारणों (= अविद्या और स्वस्वामिसम्बन्ध) को पूरा नष्ट कर दिया है ।
३. असम्प्रज्ञात समाधि के माध्यम से मोक्षसुख का अनुभव कर लिया है ।

४. मोक्ष-प्राप्ति का उपाय (= विवेक ख्याति) मैंने प्राप्त कर लिया है ।
५. चित्त पर गुणों का अधिकार (= भोगों में प्रवृत्ति) समाप्त हो गया है ।
६. मेरा अगला जन्म नहीं होगा ।
७. मोक्ष की अवस्था में प्रकृति के बन्धन से सर्वथा छूटकर स्वतंत्र हो जाऊँगा ।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।।२८।।

[योगाङ्गाऽनुष्ठानात्] योग के अङ्गों का अनुष्ठान करने से [अशुद्धिक्षये] अशुद्धि का नाश होने पर [ज्ञान दीप्तिः] ज्ञान का प्रकाश (= विकास) होता है [आविवेकख्यातेः] विवेक ख्याति तक ।

योग के आठ अङ्गों को व्यवहार में लाने से अविद्या आदि दोषों का नाश होता जाता है और ज्ञान का विकास होता है । यह ज्ञान तब तक बढ़ता है जब तक कि साधक विवेकख्याति (= तीन अनादि तत्त्वों का यथार्थज्ञान) न प्राप्त कर लेवे ।

**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध-
योऽष्टावङ्गानि ।।२९।।**

[यमनियम....समाधयः] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि (ये) [अष्टौ] आठ [अङ्गानि] (योग के) अङ्ग हैं ।

यम से लेकर समाधि तक ये आठ योग के अङ्ग है ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।।३०।।

[अहिंसा....अपरिग्रहाः] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच [यमाः] यम हैं ।

१. अहिंसा-शरीर, वाणी तथा मन से सब काल में समस्त प्राणियों के साथ वैरभाव (= द्वेष) छोड़कर प्रेमपूर्वक व्यवहार करना ।
२. सत्य-जैसा देखा, सुना, पढ़ा, अनुमान किया हुआ ज्ञान मन में है, वैसा ही वाणी से बोलना और शरीरसे आचरण में लाना ।
३. अस्तेय-किसी वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना, उस वस्तु को न तो शरीर से लेना, न लेने के लिए किसी को वाणी से कहना और न ही मन में लेने की इच्छा करना ।
४. ब्रह्मचर्य-मन तथा इन्द्रियों पर संयम करके वीर्य आदि शारीरिक शक्तियों

की रक्षा करना, वेदादि सत्य शास्त्रों को पढ़ना तथा ईश्वर की उपासना करना ।

५. अपरिग्रह–हानिकारक एवं अनावश्यक वस्तुओं का तथा हानिकारक एवं अनावश्यक विचारों का संग्रह न करना ।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।।३१।।

[जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः] जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित [सार्वभौमाः] सब अवस्थाओं में अनुष्ठान किये जाने वाले [महाव्रतम्] महाव्रत माने गये हैं ।

१. जाति-शरीर (पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य आदि),
२. देश-स्थान विशेष (मन्दिर, तीर्थस्थान इत्यादि),
३. काल-दिवस विशेष (एकादशी, पूर्णिमा इत्यादि),
४. समय-अपना नियम = सिद्धांत (अतिथि को माँस खिलाऊँगा, स्वयं नहीं खाऊँगा)

वे अहिंसा आदि यम जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित (सभी अवस्थाओं में पालन करने योग्य) सब प्राणियों के लिए हितकारी महान् कर्तव्य हैं । अर्थात् सब प्राणियों के साथ इन यमों का पालन करने से मनुष्य का जीवन महान् बनता है । इसका पालन किये बिना कोई भी समाज सुखी नहीं हो सकता ।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।।३२।।

[शौच....प्रणिधानानि] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पाँच [नियमाः] नियम हैं ।

१. शौच = शुद्धि दो प्रकार की है, पहली बाह्य और दूसरी आन्तरिक शुद्धि । शरीर, वस्त्र, पात्र, स्थान, खानपान तथा धनोपार्जन को पवित्र रखना 'बाह्य शुद्धि' है तथा विद्या, सत्संग, स्वाध्याय, सत्यभाषण व धर्माचरण से मन-बुद्धि आदि अन्तःकरण को पवित्र करना 'आन्तरिक शुद्धि' है;
२. सन्तोष-अपने पास विद्यमान ज्ञान, बल तथा साधनों से पूर्ण पुरुषार्थ करने के पश्चात् जितना भी आनन्द विद्या, बल, धनादि फलरूप में प्राप्त हो, उतने से ही सन्तुष्ट रहना, उससे अधिक की इच्छा न करना;
३. तपः-धर्माचरणरूप उत्तम कर्तव्य-कर्मों को करते हुए भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी,

हानि-लाभ, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को प्रसन्नता पूर्वक सहन करना;

४. **स्वाध्याय**-मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले वेदादि सत्य शास्त्रों को पढ़ना, ओम् आदि पवित्र मन्त्रों का जप करना तथा आत्म चिन्तन करना;

५. **ईश्वरप्रणिधान**-शरीर, बुद्धि, बल, विद्या, धनादि समस्त साधनों को ईश्वर प्रदत्त मानकर उनका प्रयोग मन, वाणी तथा शरीर से ईश्वर की प्राप्ति के लिए ही करना, लौकिक-उद्देश्य=धन, मान, यश आदि की प्राप्ति के लिए न करना 'ईश्वरप्रणिधान' कहलाता है । सर्वव्यापक, सर्वज्ञ ईश्वर मुझे देख, सुन, जान रहा है, यह भावना भी मन में बनाये रखना, 'ईश्वरप्रणिधान' के अन्तर्गत आती है ।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।।३३।।

[वितर्कबाधने] हिंसा आदि योगविरुद्ध आचरणों से बाधा उपस्थित होने पर [प्रतिपक्षभावनम्] विपरीत पक्ष का चिन्तन करना चाहिए ।

यम नियमों के विरोध के विरोधी वितर्कों (=हिंसा के विचारों द्वारा योग मार्ग में बाधा उपस्थित होने पर इन वितर्कों के विरोधी विचारों को उत्पन्न करना चाहिए । अर्थात् मैं हिंसा नहीं करूंगा, मैं असत्य नहीं बोलूंगा इत्यादि विचार बनाने चाहिएँ और ऐसा ही आचरण करना चाहिए ।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।।३४।।

[वितर्काः] वितर्क [हिंसादयः] हिंसा आदि (यम-नियमों के विरोधी विचार) हैं [कृतकारिताऽनुमोदिताः] स्वयं किये हुए, अन्य से कराये हुए और समर्थन किये हुए [लोभ-क्रोध-मोहपूर्वकाः] लोभ, क्रोध और मोह रूपी कारण वाले [मृदु-मध्य-अधिमात्राः] थोड़ी, मध्यम और अधिक मात्रा वाले [दुःख-अज्ञान-अनन्तफलाः] अत्यधिक अज्ञान और दुःख जिनका फल है [इति] इस प्रकार [प्रतिपक्ष-भावनम्]विपरीत पक्ष का चिन्तन करे ।

वितर्क हिंसा आदि (योग से विरूद्ध आचरण) को कहते हैं । ये हिंसा आदि वितर्क स्वयं किये गये, दूसरे से करवाये गये तथा दूसरोंका समर्थन किये जाने के स्वरूप वाले होते हैं । ये लोभ, क्रोध तथा मोह रूपी कारणों से उत्पन्न होते हैं । ये वितर्क मृदु (= कम) मध्य (= मध्यम) और अधिमात्र (= अधिक) मात्रा में किये जाते हैं । ये दुःख तथा अज्ञानरूपी फल देने वाले होते हैं ।

इस प्रकार इन हिंसा आदि वितर्कों को दुखदायी समझकर इनकी विरोधी भावना बनानी चाहिए। जैसा कि सूत्र २/३३ में बताया गया है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

[अहिंसाप्रतिष्ठायाम्] अहिंसा का आचरण परिपक्व हो जाने पर [तत्सन्निधौ] उस योगी पुरुष के समीप आने पर [वैरत्यागः] वैरभाव छूट जाता है।

अहिंसा धर्म; को यथार्थ रूप में समझकर उसका निश्चय पूर्वक आचरण करने वाले साधक के मन से समस्त प्राणियों के प्रति वैरभाव (= द्वेष) छूट जाता है तथा उस अहिंसक साधक के सत्संग एवं उपदेश के अनुसार आचरण करने वाले अन्य व्यक्तियों का भी अपनी अपनी योग्यता के अनुसार वैर भाव छूट जाता है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥३६॥

[सत्यप्रतिष्ठायाम्] सत्य का आचरण परिपक्व हो जाने पर [क्रियाफल-आश्रयत्वम्] कर्म, फलरूपी आश्रय वाले हो जाते हैं अर्थात् सफल होते हैं।

जब मनुष्य निश्चय करके मन, वाणी तथा शरीर से सत्य को ही मानता, बोलता तथा करता है तो वह जिन=जिन उत्तम कार्यों को करना चाहता है, वे सब सफल होते हैं।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥

[अस्तेयप्रतिष्ठायाम्] पूर्णतया चोरी का परित्याग कर देने पर [सर्वरत्न-उपस्थानम्] सब उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है।

जब मनुष्य निश्चय करके मन, वाणी तथा शरीर से चोरी छोड़ देता है तब सब उत्तम उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। अर्थात् ईश्वर की ओर से ज्ञान-विज्ञान, बल, आनन्द आदि तथा मनुष्यों की ओर से भी श्रद्धावश उस योगी को भोजन, वस्त्र, धनादि सब प्रकार के पदार्थ प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

[ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्] ब्रह्मचर्य का पूर्णरूप से पालन करने पर [वीर्यलाभः] शारीरिक एवं बौद्धिक बल बढ़ता है।

मन, वाणी तथा शरीर से संयम करके ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले व्यक्ति का दो प्रकार का बल बढ़ता है, एक शारीरिक दूसरा बौद्धिक; इनके बढ़ने से मनुष्य आनन्द में रहता है ।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।।३९।।

[अपरिग्रहस्थैर्ये] अपरिग्रह का दृढ़तापूर्वक पालन करने पर [जन्मकथन्तासम्बोधः] जन्म के सम्बन्ध में जानने की इच्छा तीव्र हो जाती है ।

अपरिग्रह का अच्छी प्रकार से पालन करने पर साधक को यह जन्म (= शरीर) क्या है, मैं शरीर हूँ या आत्मा हूँ, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, मुझे क्या करना चाहिए, मेरा क्या सामर्थ्य है इत्यादि विषयों को जानने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है ।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।।४०।।

[शौचात्] शौच (= शुद्धि) का पालन करने से [स्वाङ्गजुगुप्सा] अपने अङ्गों से घृणा हो जाती है (और) [परैरसंसर्गः] अन्यों के शरीर के साथ संसर्ग करने की इच्छा भी नहीं रहती ।

बार-बार शुद्धि करने पर भी जब साधक व्यक्ति को अपना शरीर गन्दा ही प्रतीत होता है, तो उसकी अपने शरीर के प्रति आसक्ति नहीं रहती और वह दूसरे व्यक्ति के शरीर के साथ अपने शरीर का सम्पर्क नहीं करता, क्योंकि वह जान लेता है कि अन्यों के शरीर भी मलादि से भरे हुए हैं ।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।। ४१ ।।

[सत्त्वशुद्धि-सौमनस्य-एकाग्र्य-इन्द्रियजय-आत्मा-दर्शनयोग्यत्वानि च] अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय तथा आत्मा-परमात्मा को जानने की योग्यता प्राप्त होती है ।

आन्तरिकशुद्धि करने से साधक की बुद्धि बढ़ती है, मन एकाग्र तथा प्रसन्न रहता है, इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है तथा वह आत्मा-परमात्मा को जानने का सामर्थ्य भी प्राप्त कर लेता है ।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।।४२।।

[सन्तोषाद्] सन्तोष का पालन करने से (साधक को) [अनुत्तमसुखलाभः]

काल से मापने का तात्पर्य है-कितने क्षणों तक रोका गया ।

संख्या से मापने का तात्पर्य है-कितने श्वास प्रश्वासों तक प्राण को रोका गया ।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।।५१।।

[बाह्य-आभ्यन्तर-विषयाक्षेपी] बाह्यविषय तथा आभ्यन्तरविषय दोनों प्राणायामों को रोकनेवाला [चतुर्थः] चौथा प्राणायाम होता है ।

इस प्राणायाम में प्राण को बार-बार बाहर तथा अन्दर रोकना होता है ।

विधि-इस प्राणायाम में प्राण को बाहर निकालकर यथाशक्ति बाहर ही रोकते हैं । जब प्राण अन्दर आने लगता है तो उसे अन्दर नहीं आने देते बल्कि अन्दर के बचे हुए प्राण को भी बाहर फैंककर पुनः बाहर ही रोकते हैं । इसी क्रिया को यथासामर्थ्य एक बार-दो बार करते हैं । पुनः प्राण को अन्दर भर कर यथाशक्ति अन्दर ही रोकते हैं । जब प्राण बाहर निकलने लगता है, तो बाहर नहीं निकलने देते बल्कि बाहर से कुछ और प्राण लेकर अन्दर ही रोकते हैं । इसी प्रकार यथासामर्थ्य एक दो बार करते हैं । घबराहट होने पर प्राण को बाहर छोड़ देते हैं । इस प्रकार यह एक प्राणायाम हो जाता है ।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।।५२।।

[ततः] प्राणायाम के अभ्यास से [क्षीयते] नष्ट होता है [प्रकाश-आवरणम्] ज्ञान तो ढकने वाला आवरण (= अज्ञान) ।

उपर्युक्त प्रकार के प्राणायाम के निरन्तर अनुष्ठान करने से आत्मा-परमात्मा के ज्ञान को ढ़कने वाला आवरण जो अविद्या है वह नित्य प्रति नष्ट होता जाता है, और ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है । साधक रोग रहित होकर उत्तम स्वास्थ्य को प्राप्त करता है ।

धारणासु च योग्यता मनसः ।।५३।।

[धारणासु च] और धारणाओं में (= मन को नासिका, मस्तक, आदि किसी भी स्थान पर स्थिर करने में) [योग्यता] क्षमता बढ़ती है [मनसः] मन की ।

प्राणायाम के अभ्यास से यह भी फल होता है कि साधक की मन को नासिका, मस्तक आदि स्थानों पर स्थिर करने की योग्यता बढ़ती जाती है । इससे बुद्धि, स्मृति और मन की एकाग्रता में आश्चर्यजनक वृद्धि होती है ।

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपाऽनुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।।५४।।

[स्वविषय-असम्प्रयोगे] अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न रहने पर [चित्तस्वरूपाऽनुकार इव] मन के स्वरूप जैसा हो जाना (= रुक जाना) [इन्द्रियाणाम्] इन्द्रियों का [प्रत्याहारः] प्रत्याहार कहलाता है ।

मन के रुक जाने पर नेत्रादि इन्द्रियों का अपने अपने विषयों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् इन्द्रियाँ शांत होकर अपना कार्य बंद कर देती है, इस स्थिति का नाम 'प्रत्याहार' है ।

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ।।५५।।

[ततः] प्रत्याहार की सिद्धि से [परमावश्यता] उत्कृष्ट रूप से अपने में होना [इन्द्रियाणाम्] इन्द्रियों का ।

प्रत्याहार की सिद्धि होने से योगाभ्यासी का इन्द्रियों पर सर्वोत्कृष्ट वशीकरण (= अच्छा नियंत्रण) हो जाता है । वह अपने मन को जहाँ और जिस विषय में लगाना चाहता है, लगा लेता है, तथा जिस विषय से मन को हटाना चाहता है, हटा लेता है ।

इति द्वितीयः पादः

इति योगदर्शनस्य प्रथमो भागः ।

अनुभूमिका

योगदर्शन के द्वितीय भाग में विशेषरूप से सिद्धियों का प्रकरण है । सिद्धि का अर्थ है योगाभ्यास के फल स्वरूप प्राप्त होने वाली उपलब्धि । योगदर्शन में अनेक प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है । जन सामान्य इन सिद्धियों के सम्बन्ध में जानने को उत्सुक रहता है कि इन सिद्धियों का वास्तविक स्वरूप क्या है तथा क्या ये उपलब्ध हो सकती हैं ? यद्यपि इन सिद्धियों का विषय पर्याप्त गवेषणा की अपेक्षा रखता है और इनका अन्तिम निर्णय तो वे लोग ही कर सकते हैं जो इनकी प्राप्ति के लिए लम्बे काल तक पुरुषार्थ एवं अभ्यास करें । मोक्ष प्राप्ति में अनेक सिद्धियाँ बाधक एवं अनावश्यक होने के कारण हमने इनकी प्राप्ति के लिए परिश्रम करना और समय लगाना उचित नहीं समझा । इसलिए प्रत्येक सिद्धि का प्रत्यक्ष पूर्वक अन्तिम निर्णय तो हम नहीं दे सकते परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती जी द्वारा उल्लिखित सत्यासत्य के निर्णय की पाँच कसौटियों और अपनी वर्तमान की योग्यता, अध्ययन, अभ्यास आदि के आधार पर हम योगसिद्धियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

विद्वान् लोग इस विषय में पक्षपात रहित होकर विचार करें । जो हमारी त्रुटि हो उसको हमें अवश्य ही बतावें । प्रमाणों से जो बात सत्य सिद्ध हो जायेगी, उसका ग्रहण और जो असत्य सिद्ध होगी उसका परित्याग करने के लिए हम सर्वदा उद्यत रहेंगे ।

इन योग सम्बन्धी सिद्धियों को स्थूल रूप में हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं —

(१) संभव कोटि
(२) असंभव कोटि
(३) परीक्षा कोटि
(४) विकल्प कोटि

(१) संभव कोटि-जो सिद्धियाँ, विधिपूर्वक अनुष्ठान करने पर साधक को प्राप्त हो जाती हैं, वे संभव कोटि में हैं । यथा मन, इन्द्रियों का वश में आना, शारीरिक एवं मानसिक बलविशेष को प्राप्त करना, मान-अपमान को सहना, समाधि लगाना, ईश्वर से विशेष ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भयता आदि गुणों को प्राप्त करना इत्यादि ।

(२) असंभव कोटि-जो सिद्धियाँ किसी भी प्रकार से किसी भी व्यक्ति को कदापि प्राप्त नहीं हो सकतीं, वे असंभव कोटि में हैं, यथा सृष्टि की रचना करना, अरबों खरबों वर्षों की आयु होना, ईश्वर के समान सर्वज्ञ होना इत्यादि ।

(३) परीक्षा कोटि-जिन सिद्धियों के विषय में, बिना परीक्षा के न तो यह कहा जा सकता है कि यह संभव है, और न ही अब तक के ज्ञान के अनुसार निषेध किया जा सकता है कि यह नितान्त असंभव है, ऐसी सिद्धियाँ परीक्षा कोटि में हैं । यथा हजारों मील दूर स्थित वस्तुओं को जानना, पानी पर चलना, पिछले जन्मों को जानना इत्यादि ।

(४) विकल्प कोटि-जिन सिद्धियों की उत्पत्ति शरीर में मानना तो संभव नहीं, किन्तु वे सिद्धियाँ योगी के चित्त(=मन) में तो पैदा हो सकती हैं । इसके अतिरिक्त कुछ सिद्धियों की व्याख्या

यदि सृष्टि क्रम के अनुकूल की जाय तो संभव हो सकती हैं। और यदि सृष्टि क्रम से विरुद्ध की जाये तो वे सत्य नहीं मानी जा सकतीं, ऐसी सिद्धियाँ विकल्प कोटि में हैं। यथा बौद्धिक स्तर पर आकाश में उड़ना तो संभव है परन्तु स्थूल शरीर सहित संयम मात्र से आकाश में उड़ना असंभव है।

आध्यात्मिक जगत् में योग सम्बन्धी जो मान्यताएँ आजकल प्रचलित हैं, उनमें से कुछ का परिगणन हम यहाँ कर रहे हैं —

(१) योगी चलते-फिरते, खाते-पीते तथा परोपकार आदि उत्तम कार्यों को करते समय दिन भर समाधि में रह सकता है। (संभव कोटि)

(२) योगी इन्द्रियों से रूप रस आदि विषयों का सेवन करते हुए, विषयों में सुख नहीं लेता है। जीवन निर्वाह मात्र के लिए खाना पीना आदि कार्य करता है। (संभव कोटि)

(३) योगी समस्त प्राणियों के प्रति वैर भाव का त्याग कर के, पक्षपात रहित होकर निःस्वार्थ भावना से सब के कल्याण के लिए कार्य करता है। (संभव कोटि)

(४) योगी प्रकृति से उत्पन्न संसार के समस्त पदार्थों को बौद्धिक स्तर पर अनित्य देखने में समर्थ होता है। (संभव कोटि)

(५) योगी अपने मन को उसी प्रकार अधिकार पूर्वक चलाता है जैसे सर्कस में साईकल चलाने वाला अधिकार पूर्वक साईकल चलाता है। (संभव कोटि)

(६) योगी अन्न, जल, शाक, फल, दुग्ध आदि खाद्य पदार्थों का प्रयोग किये बिना ही, केवल वायु सेवन करता हुआ १५-२० वर्षों तक भी जीवित रह सकता है। (असंभव कोटि)

(७) योगी स्थूल शरीर से आकाश में पक्षियों की तरह उड़ सकता है। (असंभव कोटि)

(८) योगी बिना नाव के भरी हुई नदी के पानी पर पैरों से चलता है और डूबता नहीं है। (परीक्षा कोटि)

(९) योगी जलते हुऐ अंगारों पर नंगे पाँवों से लम्बे काल (एक घण्टे) तक खड़ा रह सकता है और चल सकता है, किन्तु उसके पाँव जलते नहीं हैं। (असंभव कोटि)

(१०) योगी भूमि पर खड़ा हुआ अंगुली से चन्द्रमा को छू सकता है। (असंभव कोटि)

(११) योगी भूमि में, स्थूल शरीर से वैसे ही डुबकियाँ लगाता है, जैसे गोताखोर पानी में। (असंभव कोटि)

(१२) पूर्ण अहिंसक योगी के प्रति समस्त प्राणी वैरभाव त्याग देते हैं। (असंभव कोटि)

(१३) समाधि अवस्था में योगी के हाथ, पाँव, सिर आदि काट देने पर भी उसको दुःख नहीं होता और समाधि लगी रहती है। (असंभव कोटि)

(१४) योगी फल, फूल, मिठाई, सोना, चाँदी, घड़ी, पैन इत्यादि इच्छित वस्तुएँ बिना उपादान कारण के तत्काल बना देता है। (असंभव कोटि)

(१५) योगी अपने स्थूल शरीर को पर्वत के समान भारी, विशाल तथा वायु के समान हल्का तत्काल बना लेता है। (असंभव कोटि)

(१६) योगी अदृश्य हो जाता है और स्पर्श, गन्ध आदि गुणों से भी रहित हो जाता है। (परीक्षा कोटि)

(१७) योगी दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है तथा अपने शरीर में वापस लोटकर पुनः

जीवित हो जाता है । (असंभव कोटि)

(१८) योगी अनेक प्रकार के शरीरों का निर्माण कर सकता है और एक साथ उन शरीरों को धारण करके उनसे विभिन्न कार्यों को कर सकता है । (असंभव कोटि)

(१९) योगी भूत, भविष्यत् की सभी बातों को जान सकता है । (असंभव कोटि)

(२०) योगी दूर स्थित वस्तु (भारत में बैठा हुआ अमेरिका में स्थित वस्तु) को जान सकता है । (परीक्षा कोटि)

(२१) योगी की आयु लाखों करोड़ों वर्षों की हो सकती है । (असंभव कोटि)

(२२) योगी द्रव्यों को बदल सकता है, अर्थात् अग्नि को पानी, साँप को लकड़ी, मनुष्य को कबूतर बना सकता है । (असंभव कोटि)

(२३) योगी शक्तिपात करके या सिर पर हाथ धर कर दूसरे की समाधि लगवा कर ईश्वर का साक्षात्कार करा देता है । (असंभव कोटि)

(२४) योगी परमात्मा के समान सर्वज्ञ हो जाता है, अर्थात् वह सब कुछ को जान लेता है तथा अपनी इच्छानुसार नयी सृष्टि भी बना सकता है । (असंभव कोटि)

(२५) योगी अपने पिछले जन्मों को जान लेता है । (परीक्षा कोटि)

सब सज्जनों विशेषकर विद्वानों का यह कर्त्तव्य बनता है कि योग विषयक निराधार, मिथ्या, क़ल्पित, तर्क, प्रमाण विरुद्ध मान्यताओं का खण्डन तथा वास्तविक मान्यताओं का मण्डन करें । क्योंकि इन अज्ञान तथा स्वार्थ से उत्पन्न योगविषयक कल्पित मिथ्या विचारों से मनुष्य समाज अन्ध विश्वास तथा पाखण्ड के गहरे अन्धकार में चला गया है और जा रहा है ।

योग सम्बन्धी गलत धारणाओं के कारण आज हज़ारों लाखों व्यक्तियों की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक शक्तियाँ व्यर्थ ही नष्ट हो रही हैं । सच्चे योगाभ्यास के स्थान पर मिथ्या योगाभ्यास को अपनाकर वे स्वास्थ्य, सुख, शान्ति, ज्ञान-विज्ञान, बल आदि को प्राप्त न करके, उनके विपरीत रोग, दुःख, अशान्ति, अज्ञान, निर्बलता आदि दोषों को प्राप्त हो रहे हैं । और साथ ही पठित बुद्धिजीवीवर्ग तर्क, युक्ति, प्रमाण, विज्ञान की संगति से रहित, काल्पनिक बातों का योगाभ्यास में समावेश देखकर, योगाभ्यास, समाधि, ईश्वरसाक्षात्कार, मुक्ति इत्यादि आध्यात्मिक विषयों का विरोधी बन गया है ।

जिनका योग से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसे असंभव एवं कष्ट- साध्य क्रिया कलापों व सिद्धियों को योग के अंगरूप में जुड़ा देखकर जन सामान्य यह मानने लगा है कि योग तो हमारे लिए असंभव है, हम सांसारिक लोग ऐसे योग को अपना नहीं सकते । ऐसी योग सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं के कारण सत्य योग विद्या का भी लोप हो गया तथा होता जा रहा है । इसलिए इन योग सम्बन्धी मिथ्या मान्यताओं का निराकरण अवश्य ही करना चाहिए, जिससे मानव समाज उपर्युक्त हानियों से बचे तथा विशुद्ध योग विद्या को अपना कर लाभ उठा सके ।

\- ज्ञानेश्वरार्यः

॥ सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः ॥

योगदर्शनम्

तृतीयः विभूतिपादः

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥१॥

[देशबन्धः] किसी स्थान विशेष पर स्थिर करना [चित्तस्य] चित्त का (को) [धारणा] धारणा कहलाती है ।

ईश्वर का ध्यान करने के लिए आँखें बन्द करके मन को मस्तक, भ्रूमध्य, नासिका, कण्ठ, हृदय, नाभि आदि किसी एक स्थान पर स्थिर करते या रोकने का नाम 'धारणा' है ।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

[तत्र] धारणा वाले स्थान पर [प्रत्ययैकतानता] एक वस्तु के ज्ञान का प्रवाह बना रहना [ध्यानम्] ध्यान कहलाता है ।

किसी एक स्थान पर मन को स्थिर कर देने के पश्चात् वेदमन्त्र या अन्य शब्दों के माध्यम से ईश्वर को प्राप्त करने (= जानने = अनुभव करने) के लिए, ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का निरन्तर चिंतन करना किन्तु बीच में किसी अन्य वस्तु या विषय का स्मरण न करना, 'ध्यान' कहलाता है ।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

[तदेव] वह (ध्यान) ही [अर्थमात्रनिर्भासम्] केवल वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला [स्वरूपशून्यम् इव] अपने स्वरूप से रहित हुआ हुआ सा [समाधिः] समाधि कहलाता है ।

'शब्द प्रमाण' तथा 'अनुमान प्रमाण' के माध्यम से ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करते रहने पर जब ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है अर्थात् ईश्वर के आनन्द में साधक निमग्न हो जाता है, तब उस अवस्था को समाधि कहते है । ध्यान और समाधि में अन्तर=भेद यह है कि ध्यान में ईश्वर की खोज

चलती रहती है और जब ईश्वर की खोज पूर्ण होकर ईश्वर का प्रत्यक्ष हो जाता है तो वही समाधि कहलाती है ।

त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥

[त्रयम्] तीनों का [एकत्र] एक ही विषय (ध्येय) में होना [संयमः] संयम कहलाता है ।

जब धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक ही विषय में उपस्थित किये जाते हैं तो वह संयम कहलाता है । यह संयम की शास्त्रीय परिभाषा है । अर्थात् आगे जहाँ जहाँ सूत्रों व भाष्य में कहा जायेगा कि अमुक विषय में संयम करने से अमुक-अमुक लाभ होता है वहाँ वहाँ संयम का अर्थ होगा कि उस-उस विषय में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों लगाने से वह वह लाभ होता है । जिस वस्तु में धारणा की जाये उसी वस्तु का ध्यान किया जाये और उसी वस्तु में समाधि लगायी जाये । यदि शरीर के किसी अंगविशेष में धारणा की जाये और ध्यान किसी अन्य वस्तु का किया जाये तो वह संयम नहीं कहलायेगा ।

तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोकः ॥५॥

[तत्-जयात्] उस संयम पर विजय प्राप्त कर लेने से [प्रज्ञाऽऽलोकः] समाधिबुद्धि का विकास होता है ।

उस संयम का उत्कृष्ट अभ्यास करके उस पर अधिकार कर लेने से समाधिबुद्धि विकसित होती है, अर्थात् समाधि में प्राप्त हुए ज्ञान की दृढ़ता, स्पष्टता और निर्मलता होती है ।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥६॥

[तस्य] उस संयम का [भूमिषु] (आगे की ऊँची) अवस्थाओं में [विनियोगः] प्रयोग करना चाहिए ।

योग की नीची अवस्थाओं में संयम (= धारणा, ध्यान और समाधि) का दृढ़ अभ्यास करके, उसको जीत कर, योग की ऊँची अवस्थाओं को जीतने (= प्राप्त करने) के लिए प्रयोग करना चाहिए ।

यहाँ सूत्र में भूमियों=अवस्थाओं से तात्पर्य वितर्क, विचार आदि सम्प्रज्ञात समाधियों से है, जिनका वर्णन योगदर्शन के प्रथम पाद में आ चुका है ।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥७॥

[त्रयम्] (धारणा, ध्यान और समाधि ये) तीनों [अन्तरङ्गम्] निकट साधन

हैं [पूर्वेभ्यः] योग के पहले पाँच अंगों की अपेक्षा से ।

सम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति कराने में योग के आठ अंगों (= साधनों) में से अन्तिम तीन अंग(= साधन) धारणा, ध्यान और समाधि पूर्वोक्त पाँच (अंगों= यम नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार) की अपेक्षा से निकट साधन हैं ।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ।।८।।

[तद् - अपि] वह (अन्तरंग साधन) भी [बहिरङ्गम्] दूरस्थ (साधन माना जाता) है [निर्बीजस्य] असंप्रज्ञात समाधि का ।

सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए बताये गये अन्तरंग साधन (धारणा, ध्यान और समाधि) असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति कराने में बहिरङ्ग=दूर के साधन होते हैं । असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग (= समीप का) साधन तो पर वैराग्य है ।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।।९।।

[व्युत्थान-निरोध-संस्कारयोः] व्युत्थान और निरोध संस्कारों का (क्रमशः) [अभिभवप्रादुर्भावौ] दबना और उभरना [निरोधक्षणचित्तान्वयः] निरोधक्षण (काल) से चित्त का युक्त रहना [निरोधपरिणामः] चित्त का निरोध परिणाम है ।

व्युत्थान-संस्कार का रूक जाना अर्थात् वृत्तियों का न उठना तथा निरोध-संस्कार (= असम्प्रज्ञात समाधि) का आरंभ हो जाना चित्त का निरोध-परिणाम है । इस अवस्था में चित्त निरोध के संस्कारों से युक्त रहता है और जितने काल तक यह अवस्था बनी रहती है, उतने काल तक चित्त का निरोध परिणाम कहलाता है ।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ।।१०।।

[तस्य] उस निरुद्धचित्त की [प्रशान्तवाहिता] लगातार शान्तस्वरूप स्थिति (बनी रहती है) [संस्कारात्] निरोधसंस्कारों के प्रभाव से ।

निरोध संस्कारों की दृढ़ता=प्रबलता के कारण, उस निरुद्धचित्त की लगातार शान्त स्थिति बनी रहती है । जब व्युत्थान संस्कार उभरते हैं तब चित्त की यह शान्त स्थिति भंग हो जाती है (और तब चित्त का व्युत्थान परिणाम कहलाता है) ।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ।।११।।

[सर्वार्थता-एकाग्रतयोः] सर्वार्थता और एकाग्रता का (क्रमशः) [क्षय-उदयौ] दबना और उभरना जब होता है तब [चित्तस्य] चित्त का [समाधि-परिणामः] समाधि

परिणाम कहलाता है ।

जब चित्त में अनेक विषय उठने बन्द हो जाते हैं और कोई एक विषय ही चित्त में उपस्थित रहता है, तब उस काल में चित्त की जो अवस्था होती है, उसे चित्त का 'समाधि-परिणाम' कहते हैं । यह सम्प्रज्ञात समाधि की प्रारंभिक अवस्था है ।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥१२॥

[ततः पुनः] उस स्थिति के पश्चात् [शान्त-उदितौ] शान्त होना और उत्पन्न होना [तुल्यप्रत्ययौ] समान ज्ञानों का [चित्तस्य] चित्त का [एकाग्रतापरिणामः] एकाग्रता परिणाम है ।

चित्त के समाधि परिणाम के पश्चात् एक ही वस्तु विषयक समान ज्ञानों का शान्त होना और उभरना रूपी क्रम लगातार चलता रहता है, यह स्थिति चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' कहलाती है । जैसे "मैं शुद्ध चेतन जीवात्मा हूँ" इस अनुभवात्मक ज्ञान की पुनः पुनः आवृति होते रहना एकाग्रता परिणाम है ।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

[एतेन] इस (चित्त की परिणाम व्याख्या) से [भूतेन्द्रियेषु] भूतों तथा इन्द्रियों में [धर्म-लक्षण-अवस्था-परिणामाः] धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम (का) [व्याख्याताः] वर्णन समझ लेना चाहिए ।

पूर्व (यो.द. ३,९-१२) सूत्रों में बताये गये चित्त के परिणामों की व्याख्या से समस्त पृथ्वी आदि भूतों तथा नेत्रादि से बुद्धि पर्यन्त इन्द्रियों में भी धर्म परिणाम (वस्तु का रूपांतर हो जाना), लक्षण परिणाम (वस्तु का तीनों कालों से सम्बद्ध विशेषताओं सहित ज्ञान होना) और अवस्था परिणाम (प्रतिक्षण वस्तु की अवस्था में परिवर्तन होना) को भी समझ लेना चाहिए । जैसे —

(१) मिट्टी से घड़ा बन जाना, यह वस्तु का धर्म परिणाम है ।

(२) पहले मिट्टी होना, फिर घड़ा बन जाना, फिर टूटकर ठीकरे रह जाना, यह वस्तु का लक्षण परिणाम है । इसमें प्रथम अवस्था घड़े का अनागत लक्षण है, दूसरी अवस्था घड़े का वर्तमान लक्षण है तथा तीसरी अवस्था घड़े का अतीत लक्षण है ।

(३) नये घड़े का प्रतिक्षण पुराना होते जाना: वस्तु का अवस्था परिणाम है ।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।।१४।।

[शान्त-उदित-अव्यपदेश्य-धर्म-अनुपाती] भूत, वर्तमान, भविष्यत् धर्मों में जो (एक वस्तु तत्त्व निरन्तर) अनुगत(= विद्यमान) रहता है वह [धर्मी] धर्मी कहलाता है ।

तीनों कालों में मिट्टी आदि द्रव्यों के जो भी परिणत रूप (घटादि विकार = कार्य पदार्थ) बनते हैं, वे घटादि विकार 'धर्म' कहलाते हैं, और इन घटादि धर्मों में उपादान रूप से विद्यमान मिट्टी तत्त्व 'धर्मी' कहलाता है । धर्म रूप घटादि विकार तो कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं, परन्तु धर्मी (मिट्टी आदि द्रव्य) नष्ट नहीं होते ।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ।।१५।।

[क्रम-अन्यत्वम्] क्रम का अन्य-अन्य होना (बदलना) [परिणाम-अन्यत्वे] परिणाम के बदलने में [हेतुः] कारण होता है ।

क्रम का भिन्न-भिन्न होना (अर्थात् वस्तु में, एक काल में एक प्रकार की स्थिति के पश्चात् दूसरे काल में भिन्न स्थिति का उत्पन्न होना) धर्मी के भिन्न-भिन्न परिणामों का कारण है । जैसे मिट्टी का चूर्ण के रूप में रहना, फिर पिण्ड बनना, फिर घड़ा बनना, फिर ठीकरे आदि, यह क्रम कहलाता है । और यह क्रम मिट्टी के विभिन्न परिणामों का कारण बनता है ।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ।।१६।।

[परिणाम-त्रय-संयमात्] वस्तु के तीन प्रकार के (धर्म, लक्षण व अवस्था) परिणामों में संयम करने से (योगी को) [अतीत-अनागत-ज्ञानम्] पदार्थ के भूत और भविष्यत् की स्थिति का ज्ञान होता है ।

जैसे आज के वैज्ञानिक किसी वृक्ष, भवन, पर्वत, पृथ्वी आदि वस्तुओं का सूक्ष्मता से परीक्षण करके यह पता लगाते हैं कि यह वस्तु कितनी पुरानी है तथा कितने काल तक आगे बनी रहेगी । ऐसे ही योगी को भी किसी वस्तु से सम्बन्धित भूत और भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है । तात्पर्य यह है कि योगी जिस वस्तु को अपने संयम का विषय बनाता है उस वस्तु की उत्पत्ति, विनाश, उपादान कारण आदि से सम्बन्धित बहुत सी बातों को जान लेता है ।

किन्तु जो लोग इस सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि योगी संसार के सभी

पदार्थों को या व्यक्तियों के भूत व भविष्य की सभी बातों को जान सकता है, वह ठीक नहीं है । अर्थात् यह सिद्धि विकल्प कोटि में है । *

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ।।१७।।

[शब्द-अर्थ-प्रत्ययानाम्] शब्द, अर्थ और ज्ञान के (धर्म) [इतरेतर-अध्यासात्] एक दूसरे में दिखाई देने से [संकरः] (ये तीनों) मिले जुले प्रतीत होते हैं [तत्प्रविभाग-संयमात्] उनके सूक्ष्म विभागों में संयम करने से [सर्वभूतरुतज्ञानम्] सब प्राणियों के शब्दों (वाणी) का ज्ञान हो जाता है ।

योगी शब्द, अर्थ और ज्ञान में संयम करके प्रत्येक मनुष्य के अभिप्राय को समझ सकता है । इसके अतिरिक्त पशु पक्षियों की ध्वनियों में संयम करके उनके भावों को भी जान सकता है कि अमुक पशु दुःखी है, भयभीत है, भूखा है, क्रोधित है इत्यादि । परन्तु जो लोग ऐसा मानते हैं कि जैसे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की भाषा को सुनकर उसके शब्दों का अर्थ जान लेता है, वैसे ही योगी कौवे आदि पक्षियों की भाषा को सुनकर यह जान लेवे कि अमुक वृक्ष के नीचे कौवा अपने बच्चों को कह रहा हो, कि तुम यहीं पर रहना, मैं तुम्हारे लिए दाना लेकर आता हूँ, ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता । **(यह सिद्धि विकल्प कोटि में है ।)**

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ।।१८।।

[संस्कार-साक्षात्-करणात्] संस्कारों का साक्षात्कार करने से [पूर्व-जाति-ज्ञानम्] पूर्व जन्म का ज्ञान होता है ।

योगी अपने पूर्व जन्म की समस्त घटनाओं तथा स्थितियों का परिज्ञान कर लेता है–वह यह जान लेता है कि मैं पूर्व जन्म में किस देश के, किस प्रान्त में किस नगर या ग्राम में, किस घर में रहता था । मेरे माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री कौन थे, मेरा रंग-रूप, आकार-प्रकार कैसा था, कब-कब, कौन कौन सी घटनाएँ घटीं, उन सब का स्मरण कर लेता है; यह बात अभी परीक्षा कोटि में है ।

इस विषय में स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने भी सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में लिखा है कि "जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं....... जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्तमान को जानना चाहें, तो भी नहीं जान

* इसको जानने के लिए पुस्तक के द्वितीय भाग की अनुभूमिका को देखें ।

सकता । क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है । यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं ।''

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पुनर्जन्म विषय में भी निम्न बात लिखी है- ''जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं, तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का ज्ञान कब रह सकता है ?''

'पूर्व जन्म का स्मरण नहीं होता' इस विषय का उल्लेख महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने पूना में दिये प्रवचनों में भी किया है । (देखें, उपदेश मंजरी-छठा उपदेश) ।

हाँ इस विषय में इतना संभव है कि योगी अपने संस्कारों में संयम करके अनुमान लगा सकता है कि मैं पूर्व जन्म में मनुष्य था । **(यह सिद्धि परीक्षा कोटि में है ।)**

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ।।१९।।

[प्रत्ययस्य] (दूसरे व्यक्ति के) ज्ञान-विचारों में संयम करने से [परचित्तज्ञानम्] उस दूसरे व्यक्ति के चित्त का ज्ञान होता है ।

सामान्यरूप से तो प्रत्येक मनुष्य दूसरे व्यक्ति की आकृति, चेष्टा, नेत्र, मुख आदि के लक्षणों को देखकर उसकी मानसिक स्थिति का सामान्य ज्ञान कर लेता है । किन्तु योगी दूसरे व्यक्ति के आकृति आदि के सहित विचारों में संयम करके सरलता से व शीघ्र ही विशेष ज्ञान कर लेता है कि यह व्यक्ति वर्तमान में रागयुक्त है या द्वेषयुक्त, अहंकार से युक्त है या मोह से युक्त है । योगी का ज्ञान विशेष होता है, जब कि अन्य व्यक्तियों का ज्ञान साधारण होता है ।**(यह सिद्धि संभव कोटि में है ।)**

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ।।२०।।

[न] नहीं होता है [च] परन्तु [तत्] वह चित्त का ज्ञान [सालम्बनम्] विषय (= वस्तु) सहित [तस्य] उस योगी का [अविषयी-भूतत्वात्] साक्षात्कार का विषय न होने से ।

योगी दूसरे व्यक्ति के विचारों में संयम करके उसके चित्त की स्थिति को जान लेता है कि उसका चित्त राग वाला है या द्वेष वाला है । परन्तु किस वस्तु या व्यक्ति में इसका राग है अथवा किस वस्तु या व्यक्ति में इसका द्वेष है, यह नहीं जान सकता । इसका कारण यह है कि जिस वस्तु या व्यक्ति

में वह व्यक्ति रागी या द्वेषी हुआ है, वह वस्तु या व्यक्ति उस योगी के संयम का विषय नहीं होती । इस सूत्र में पिछले सूत्र में बतलायी गयी सिद्धि की विशेषता का वर्णन किया गया है ।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ।।२१।।

[काय-रूप-संयमात्] (योगी द्वारा अपने) शरीर के रूप में संयम करने से [तद्-ग्राह्य-शक्ति-स्तम्भे] शरीर में रूप गुण दिखाने का सामर्थ्य जिसमें होता है, उस शक्ति के रुक जाने पर [चक्षुः-प्रकाश-असंप्रयोगे] दूसरे व्यक्ति के नेत्र की किरणों का (उस योगी के शरीर के रूप के साथ) सम्बन्ध न होने पर [अन्तर्धानम्] योगी का छिप जाना सिद्ध होता है (= दूसरे लोग उसे देख नहीं सकते) । **(यह सिद्धि परीक्षा कोटि में है ।)**

सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ।।२२।।

[सोपक्रमम्] शीघ्र फल देने वाले [निरुपक्रमम्] देरी से फल देने वाले [च] और [कर्म] (दो प्रकार के) कर्म होते हैं; [तत्संयमात्] उन कर्मों में संयम करने से [अपरान्तज्ञानम्] मृत्यु का ज्ञान होता है; [अरिष्टेभ्यो] मृत्यु के ज्ञापक चिह्नों से (भी) [वा] अथवा (मृत्यु का ज्ञान होता है) ।

आयुरूप फल देने वाले कर्म दो प्रकार के होते हैं– शीघ्र फल देने वाले तथा देर से फल देने वाले ।

(१) नियमित व्यायाम, ब्रह्मचर्य का पालन-इन्द्रियों का संयम, उत्तम-सन्तुलित आहार, पूर्ण निद्रा आदि कर्म शीघ्र आयुरूप फल को देने वाले हैं, अर्थात् आयु को बढ़ाने वाले होते हैं ।

(२) स्वाध्याय, माता-पिता-गुरुजनों-वृद्धों की सेवा, सामाजिक कार्यों में सहयोग करना आदि कर्म परोक्षरूप से - देरी से फल देने वाले-आयु को बढ़ाने वाले होते हैं ।

इन दो प्रकार के कर्मों में संयम करने से योगी को मृत्यु का ज्ञान हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त मृत्यु के काल की जानकारी कुछ चिह्नों=लक्षणों से भी होती है । इन लक्षणों का वर्णन आयुर्वेद में किया गया है । इन लक्षणों से तो योगी के अतिरिक्त अन्य मनुष्य भी मृत्यु का ज्ञान कर सकते हैं । परन्तु मृत्यु के काल का ज्ञान ऐसा नहीं कर सकते कि इसी क्षण में होगी, किन्तु

लगभग अमुक काल में होगी ऐसा जान सकते हैं। **(यह सिद्धि संभव कोटि में हैं।)**

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२३॥

[मैत्र्यादिषु] मैत्री आदि में (संयम करने से योगी को) [बलानि] मैत्री आदि की शक्तियाँ = बल प्राप्त होते हैं।

मैत्री, करुणा और मुदिता ये तीन भावनाएँ हैं; जिनका वर्णन यो. १-३३ सूत्र में आया है। इन भावनाओं में संयम करने से योगी को क्रमशः मैत्री बल, करुणा बल तथा मुदिता बल प्राप्त होता है। योगी इन असाधारण बलों के आधार पर मानव समाज को सुखी बनाने के लिए विशेष कार्य कर जाते हैं। **(यह सिद्धि संभव कोटि में है।)**

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥२४॥

[बलेषु] बलों में (संयम करने से) [हस्तिबलादीनि] हाथी आदि के समान बल प्राप्त होता है।

जो योगी-बल वाले प्राणी-हाथी, सिंह आदि तथा वायु आदि के बल में संयम करता है, उसे बल विशेष की प्राप्ति होती है और वह उस बल से विशेष कार्यों का सम्पादन कर लेता है। जैसे पहलवान लोग महावीर, भीष्म, प्रताप, शिवाजी आदि बलवान पुरुषों के चरित्र को अपने मन में उपस्थित करके-भावनाएँ बनाकर व्यायाम आदि करते हैं तथा तदनुकूल आहार आदि का सेवन भी करते हैं, तो कालान्तर में आदर्श बल-वीरता को प्राप्त कर लेते हैं। **(यह सिद्धि संभव कोटि में है।)**

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥२५॥

[प्रवृत्ति-आलोक-न्यासात्] मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश को संयम द्वारा लगाने से [सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट-ज्ञानम्] सूक्ष्म, ढ़की हुई, दूर स्थित वस्तुओं का ज्ञान होता है।

मन की एक प्रवृत्ति का नाम है 'ज्योतिष्मती' (देखें सूत्र १-३६)। उस प्रवृत्ति का जो प्रकाश होता है, उस प्रकाश को योगी सूक्ष्म, ढ़की हुई तथा दूर देश स्थित वस्तुओं में स्थापित करके (= लगाकर) उन वस्तुओं का ज्ञान कर लेता है।

इस विषय में इतना तो संभव है कि योगी अपने चित्त की सात्त्विक अवस्था बनाकर आत्मा परमात्मा आदि सूक्ष्म वस्तुओं में संयम करके उनके बारे में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों को जान सकता है। किन्तु दिवार आदि से ढ़की हुई वस्तुओं और हजारों मील दूर स्थित वस्तुओं को योगी इस प्रवृत्ति के प्रकाश द्वारा संयम करके जान लेता है, **(यह बात अभी परीक्षा कोटि में है।)**

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।।२६।।

[भुवनज्ञानम्] भुवनों-लोक-लोकान्तरों का ज्ञान होता है [सूर्ये] सूर्य में (योगी के द्वारा) [संयमात्] संयम करने से।

भौतिक सूर्य में या सूर्य नामक नाड़ी में संयम करने से लोक-लोकान्तरों का ज्ञान हो जाता है। **(यह बात अभी परीक्षा कोटि में है।)**

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।।२७।।

[चन्द्रे] चन्द्रमा में संयम करने से [ताराव्यूहज्ञानम्] योगी को तारों की स्थिति का ज्ञान होता है। **(यह सिद्धि परीक्षा कोटि में है।)**

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ।।२८।।

[ध्रुवे] ध्रुव नामक तारे में योगी के द्वारा संयम करने पर [तद्गतिज्ञानम्] आकाश में स्थित विभिन्न तारों की गति का ज्ञान होता है। **(यह सिद्धि परीक्षा कोटि में है।)**

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।।२९।।

[नाभिचक्रे] नाभिचक्र में संयम करने से योगी को [कायव्यूहज्ञानम्] शरीर की रचना (= स्थिति) का ज्ञान होता है। **(यह सिद्धि परीक्षा कोटि में है।)**

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।।३०।।

[कण्ठकूपे] ध्वनियंत्र (=टेंटुआ) के नीचे जो गड्ढ़ा है, उसमें संयम करने से योगी [क्षुत्-पिपासा-निवृत्तिः] भूख-प्यास की बाधा को कुछ काल तक रोक सकता है।

भूख-प्यास को रोकने का अर्थ जो लोग ऐसा मानते हैं कि "योगी केवल कण्ठकूप में संयम करके १५-२० वर्षों तक बिना खाये पीये जीवित रह सकता

है'' ऐसा मानता सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने के कारण संभव नहीं है। हाँ, कुछ काल तक (= कुछ घण्टे, कुछ दिन तक तो भूख प्यास को रोका जा सकता है। **(यह सिद्धि विकल्प कोटि में है)**

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ।।३१।।

[कूर्मनाड्याम्] कूर्म = कछुवे के आकार प्रकार की नाड़ी में संयम करने से योगी [स्थैर्यम्] स्थिरता को प्राप्त करता है। **(यह सिद्धि परीक्षा कोटि में है।)**

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।।३२।।

[मूर्ध-ज्योतिषि] मूर्धा के सात्त्विक प्रकाश में संयम करने से योगी को [सिद्धदर्शनम्] सिद्धों = महापुरुषों को पहचानने की योग्यता प्राप्त होती है।

जब चित्त की सात्त्विक अवस्था होती है, तब योगाभ्यासी उसमें संयम करके उत्तम विचारों को प्राप्त करता है अर्थात् उसके अपने ही चित्त में पूर्व जन्मों के काल में जो महापुरुषों के उपदेश से उत्तम उत्तम संस्कार संगृहीत हो चुके होते हैं, वे इस काल में उद्‌बुद्ध होते हैं। इसी योग्यता के आधार पर वह योगी किसी जीवित महापुरुष के व्यवहार व उपदेश आदि को देख सुनकर, उसे पहचानने में समर्थ हो जाता है। **(यह सिद्धि संभव कोटि में है।)**

प्रातिभाद् वा सर्वम् ।।३३।।

[प्रातिभाद्] प्रातिभ नामक ज्ञान के उत्पन्न होने से [वा] अथवा [सर्वम्] योगी अनेक विषयों को जान लेता है।

किन्हीं विषयों पर योगी ने पूर्वकाल में अध्ययन, श्रवण, मनन, योगाभ्यास, धर्माचरण आदि किया हो, उनके जो संस्कार योगी के चित्त में संगृहीत होते हैं, उन संस्कारों के कारण अकस्मात् योगी का जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, वह प्रातिभ नामक ज्ञान कहलाता है। उस प्रातिभ ज्ञान से योगी को अनेक विषयों का ज्ञान हो जाता है। जैसे कोई समस्या उलझी हुई हो तो ऐसे प्रातिभ ज्ञान से ये समस्याएँ सुलझ जाती हैं। **(यह सिद्धि संभव कोटि में है।)**

हृदये चित्तसंवित् ।।३४।।

[हृदये] हृदयस्थ चित्त में संयम करने से [चित्त-संवित्] चित्त का ज्ञान होता है।

यहाँ सूत्र में तात्स्थ्य उपाधि का प्रयोग है । अर्थात् हृदय में कहने का तात्पर्य है 'हृदय में स्थित चित्त में' । अभिप्राय यह हुआ कि चित्त में संयम करने से चित्त की प्रवृत्तियों = राग-द्वेष आदि क्लेशों का ज्ञान होता है, जिन्हें जानकर योगी योग में बाधक प्रवृत्तियों को पुरुषार्थ से हटाकर योग मार्ग में अभीष्ट उन्नति कर लेता है । **(यह सिद्धि संभव कोटि में है ।)**

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ।।३५।।

[सत्त्व-पुरुषयोः] बुद्धि तथा जीवात्मा का [अत्यन्त-असंकीर्णयोः] बिल्कुल अलग-अलग का [प्रत्यय-अविशेषः] भेदक-ज्ञान न होना [भोगः] भोग कहलाता है, [परार्थत्वात्] बुद्धि के अन्य के लिए होने से [स्वार्थसंयमात्] अपने (आत्मा के) स्वरूप में संयम करने से [पुरुषज्ञानम्] आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है ।

बुद्धि जड़ है, किन्तु जीवात्मा चेतन है; इसलिए ये दोनों बिल्कुल भिन्न तत्त्व हैं । जीवात्मा बाह्य विषयों की अनुभूति बुद्धितत्त्व के माध्यम से करता है । नेत्रादि इन्द्रियों से ग्रहण किया हुआ विषय बुद्धि में जैसा भासित होता है, जीवात्मा को वैसा ही ज्ञान होता है । परन्तु जब जीवात्मा बुद्धि और आत्मा (= स्वयं) को एक ही तत्त्व मान लेता है, तब बुद्धि को प्राप्त होने वाले रूप, रस, गन्धादि विषयों के बारे में ऐसा अनुभव करता है कि 'ये विषय मुझको=आत्मा को प्राप्त हो रहे हैं'' इसे 'भोग' कहते हैं ।

उपर्युक्त अवस्था से भिन्न जब बुद्धि में बाह्य विषय भासित नहीं होता, और न ही जीवात्मा में बुद्धिवृत्ति प्रतिभासित होती है, तब जीवात्मा शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थित होता है । उस अपने शुद्ध स्वरूप में संयम करने से योगी को अपने आत्मस्वरूप का बोध = साक्षात्कार होता है । **(यह सिद्धि संभव कोटि में है ।)**

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ।।३६।।

[ततः] आत्मज्ञान में संयम करने से [प्रातिभ-श्रावण-वेदना-आदर्श-आस्वाद-वार्ताः] प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, और वार्ता नामक सिद्धियाँ [जायन्ते] प्रकट होती हैं ।

पूर्व सूत्र में स्वार्थ संयम से आत्मतत्त्व का ज्ञान होना बताया गया है, उस आत्मज्ञान में संयम करने से योगी को प्रातिभ आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती

हैं, जिनका स्वरूप निम्न प्रकार से है-

१. प्रातिभ - इस सिद्धि के सम्बन्ध में सूत्र संख्या ३-३३ का भावार्थ देखें ।
२. श्रावण - इस सिद्धि से सूक्ष्म तथा कुछ दूर स्थिर ध्वनि को सुन लेने की शक्ति का उत्पन्न होना सिद्ध होता है ।
३. वेदना - इस सिद्धि से सूक्ष्म स्पर्श का भी अनुभव कर लेने की क्षमता उत्पन्न होती है ।
४. आदर्श - इस सिद्धि से सूक्ष्म रूपों को भी जान लेने की योग्यता प्राप्त होती हैं ।
५. आस्वाद - इस सिद्धि से सूक्ष्म रसों का भी ज्ञान हो जाता है ।
६. वार्ता -- इस सिद्धि से सूक्ष्म गन्धों को जानने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है । **(यह सिद्धि संभव कोटि में है ।)**

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।।३७।।

[ते] वे सिद्धियाँ [समाधौ] समाधि में तो [उपसर्गाः] विघ्नरूप हैं किन्तु [व्युत्थाने] व्युत्थान दशा में [सिद्धयः] सिद्धियाँ हैं ।

पूर्व सूत्र (३-३६) में वर्णित प्रातिभ आदि सिद्धियाँ मुक्ति का लक्ष्य न बनाकर चलने वाले व्यक्ति के लिए तो सिद्धियाँ = विशेष उपलब्धियाँ हैं, परन्तु समाधि प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर चलने वाले योगाभ्यासी के लिए विघ्नरूप या बाधक हैं । क्योंकि जो योगाभ्यासी, इन सिद्धियों के माध्यम से, संसार में जादूगरों की तरह चमत्कार प्रदर्शन करता हुआ धन, मान-प्रतिष्ठा आदि को प्राप्त करने में लग जाता है, उनका ईश्वर-प्राप्ति रूपी मुख्य लक्ष्य छूट जाता है । इसलिए योगाभ्यासी को इन सिद्धियों की प्राप्ति के लिए विशेष रुचि व प्रयत्न नहीं करना चाहिए ।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ।।३८।।

[बन्ध-कारण-शैथिल्यात्] बन्धन के कारणों को क्षीण कर देने से [प्रचारसंवेदनात्] मन के आने जाने के मार्ग को जान लेने से [च] और [चित्तस्य] मन का [पर-शरीर-आवेशः] दूसरे शरीर में प्रवेश होता है ।

बन्धन का कारण जो कि सकाम कर्म है, उसे छोड़ देने पर (= निष्काम कर्म करने पर) चित्त की एकाग्रता शक्ति बढ़ जाने से और मन को दूसरे पदार्थ

में लगाने व हटाने की विधि-प्रक्रिया जान लेने से योगी दूसरे व्यक्ति का अच्छी प्रकार से अध्ययन कर सकता है अर्थात् उस दूसरे व्यक्ति के मानसिक विचारों को अधिक अच्छी प्रकार से जान सकता है। यही अर्थ दूसरे के शरीर में प्रवेश करने का मानना चाहिए ।.**(यह सिद्धि संभव कोटि में हैं)**

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ।।३९।।

[उदान-जयात्] उदान नामक प्राण को जीत लेने से [जल-पङ्क-कण्टक-आदिषु-असङ्गः] पानी, कीचड़, काँटों आदि में योगी धंसता नहीं है [उत्क्रान्तिः च] और ऊर्ध्वगमन होता है ।

'उदान' नामक प्राण को जीत लेने से योगी पानी, कीचड़ और कांटों पर उसी प्रकार से खड़ा रहता हो, जैसे की जमीन पर खड़ा रहता है व धंसता नहीं है, यह बात तो परीक्षा कोटि में है । परन्तु उदान नामक प्राण पर अधिकार करके साथ में अन्य शुभ कर्मों को करता हुआ योगी ऊपर के मार्गों से शरीर छोड़ता है, यह तो संभव है । **(यह सिद्धि परीक्षा कोटि में है)**

समानजयाज्ज्वलनम् ।।४०।।

[समान-जयात्] समान नामक प्राण को जीत लेने से [ज्वलनम्] योगी का शरीर चमकने लगता है ।

प्राणायाम के माध्यम से समान प्राण को उद्दीप्त किया जाय, उससे जठराग्नि प्रदीप्त हो, जठराग्नि के प्रदीप्त होने से खाया-पीया हुआ भोजन अच्छी प्रकार से पचे और रस, रक्त आदि का उत्तम निर्माण हो तो रक्तादि के उत्तम निर्माण से योगी का शरीर, मुख आदि चमकने लगता है । **(यह सिद्धि संभव कोटि में है ।)**

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ।।४१।।

[श्रोत्र-आकाशयोः] श्रोत्र तथा आकाश के [सम्बन्ध-संयमात्] सम्बन्ध में संयम करने से [दिव्यम्] दिव्य (हो जाता है) [श्रोत्रम्] श्रोत्र ।

श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में योगी संयम करता है, ऐसा करने से योगी की ध्वनि को सुनने के लिए एकाग्रता बढ़ती है, इससे उसकी श्रवण शक्ति बढ़ जाती है । परिणाम स्वरूप वह सूक्ष्म ध्वनियों को भी सुन लेता है, जिन्हें कि साधारण व्यक्ति सुन नहीं पाता । **(यह सिद्धि संभव कोटि में है)**

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ।।४२।।

[काया-आकाशयोः] शरीर तथा आकाश के [सम्बन्ध-संयमात्] सम्बन्ध में संयम करने से [लघुतूल-समापत्तेः, च] और हल्के रूई आदि पदार्थ में समापत्ति करने से [आकाशगमनम्] योगी का आकाश में जाना सिद्ध हो जाता है ।

काया और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने मात्र से स्थूल शरीर का आकाश में उड़ना असंभव है । हाँ बौद्धिक स्तर पर योगी ऐसा अनुभव करता है कि जैसे मैं आकाश में उड़ रहा हूँ, वास्तव में वह शरीर सहित नहीं उड़ता । **(यह सिद्धि विकल्प कोटि में है)**

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ।।४३।।

[बहिः अकल्पिता] शरीर से बाहर, शरीर की अपेक्षा से रहित [वृत्तिः] मन की वृत्ति = व्यापार का होना [महाविदेहा] 'महाविदेहा' कहलाती है [ततः] उस महाविदेहा वृत्ति से [प्रकाश-आवरण-क्षय] बुद्धि तत्त्व का जो आवरण है, वह नष्ट होता है

योगी अपने मन की वृत्ति को शरीर से बाहर किसी स्थान पर बांध देता है । ऐसा करने में यदि यह माना जाये कि मन शरीर से बिल्कुल अलग हो जाता है, उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है तो ऐसा होना असंभव है । हाँ मन का शरीर से सम्बन्ध बना रहे और योगी उस सम्बन्ध की अनुभूति न कर पाये और वह मन की वृत्ति को शरीर से बाहर बांध देवे, ऐसा तो संभव है । ऐसी वृत्ति 'महाविदेहा' नाम से कही जाती है । ऐसी वृत्तियों का अभ्यास करके बुद्धि आदि अन्तःकरण में योगी सात्त्विक अवस्था उत्पन्न करके यथार्थ ज्ञान को ढ़कने वाले रजोगुण, तमोगुण से उत्पन्न हुए अज्ञान को नष्ट कर देता है । **(यह सिद्धि विकल्प कोटि में है ।)**

स्थूल स्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ।।४४।।

[स्थूल-स्वरूप-सूक्ष्म-अन्वय-अर्थवत्त्व-संयमात्] (भूतों के पाँच रूप) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व में संयम करने से [भूतजयः] भूतों पर विजय प्राप्त होती हैं ।

पृथ्वी आदि पाँच भूत अपनी पाँच-पाँच विशेषताओं के साथ जाने जाते हैं । वे विशेषताएँ निम्न लिखित हैं -

१. **स्थूल** - पृथ्वी आदि पाँच भूतों के विशेष धर्म, जो हमारे अनुभव में आते हैं, वे उनके 'स्थूल' रूप हैं। जैसे पृथ्वी की गन्ध, जल का रस, अग्नि का रूप, वायु का स्पर्श तथा आकाश का शब्दगुण;
२. **स्वरूप** - पृथ्वी आदि पाँच भूतों के जो सामान्य धर्म हैं, वे 'सामान्य' शब्द से कहे गये हैं। जैसे पृथ्वी में काठिन्य-कठोरता, जल में स्निग्धता - तरलता, अग्नि में उष्णता-गर्मी, वायु में गति तथा आकाश में व्यापकता;
३. **सूक्ष्म** - पृथ्वी आदि पाँच स्थूल भूतों के कारण पाँच 'तन्मात्रा' नामक तत्त्व हैं। इन तन्मात्राओं को सूत्र में 'सूक्ष्म' शब्द से कहा गया है।
४. **अन्वय** - प्रत्येक भूत का मूल उपादान कारण प्रकृति = सत्व, रजस् और तमस् का समुदाय है। ये सत्त्व आदि गुण, पाँचों भूतों में विद्यमान रहते हैं। यह भूतों का रूप 'अन्वय' शब्द से कहा गया है।
५. **अर्थवत्त्व** - अर्थवत्त्व शब्द का अर्थ है 'प्रयोजन वाला होना'। पाँच भूत जीवों के भोग तथा अपवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। अतः इनमें जीवों के प्रयोजन सिद्ध करने का सामर्थ्य है। भूतों के इस रूप को 'अर्थवत्त्व' शब्द से कहा गया है।

पृथ्वी आदि भूतों के उपर्युक्त स्थूल, स्वरूप आदि पाँच रूपों में संयम करके योगी इन भूतों के गुण-कर्म-स्वभाव को अच्छी प्रकार जान लेता है और उनका उचित उपयोग करता है। अर्थात् अनेक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए, इन भूतों का संयोजन करके विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ (= रसायन, औषधि व अन्य उपकरण) बना लेता है, और इनका उपयोग अपने व दूसरों के लाभ के लिए करता है। यही 'भूतजय' शब्द का अर्थ है। **(यह सिद्धि संभव कोटि में है।)**

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च ।।४५।।

[ततः] भूतों पर विजय प्राप्त कर लेने से [अणिमा-आदि-प्रादुर्भावः] अणिमा आदि सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं [कायसम्पत्] और शरीर सम्बन्धी सम्पदा (भी प्राप्त होती है) [तद्धर्म-अनभिघातः-च] और उन भूतों के धर्मों से कोई रुकावट नहीं होती।

पूर्वसूत्र में बताये गये पृथ्वी आदि पाँच भूतों पर विजय प्राप्त कर लेने वाले योगी को अणिमा, लघिमा, महिमा, [गरिमा], प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व और यत्रकामावसायित्व, ये आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन सिद्धियों

के जो ऐसे अर्थ किये जाते हैं कि योगी अपने शरीर को हजारों लाखों मील लम्बा फैला लेता है। योगी स्थूल शरीर से चट्टानों और पहाड़ों में ऐसे ही डुबकियाँ लगाता है जैसे गोताखोर जल में डुबकी लगाता है। ऐसा मानना सृष्टि क्रम से विरुद्ध होने से असंभव है। सृष्टि के अनुकूल इन सिद्धियों का अर्थ किया जाये तो वह संभव है।

इन सिद्धियों के अतिरिक्त, शरीर सम्बन्धी ऐश्वर्य-सम्पदा भी प्राप्त होती है, जिसका वर्णन अगले सूत्र में किया गया है। भूतजयी योगी को भूतों के धर्म उसके कार्यों में रुकावट नहीं डालते। तात्पर्य यह है कि जब योगी इन पृथ्वी, अग्नि, जल आदि भूतों के गुण-कर्म-स्वभावों को अच्छी प्रकार से जान लेता है तो ये भूत इसके प्रयोजन की सिद्धि में एक सीमा तक हानि नहीं करते। वह इन भूतों का पूरा पूरा लाभ उठाता है। जैसे आज के वैज्ञानिकों ने विद्युत के गुणों को जानकर सैकड़ों प्रकार के वैद्युतिक यंत्रों (इलैक्ट्रोनिक्स) का निर्माण किया है, जो विभिन्न व्यवहारों को सिद्ध करते हैं। **(यह सिद्धि विकल्प कोटि में है।)**

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥४६॥

[रूप-लावण्य-बल-वज्रसंहननत्वानि] रूप, लावण्य, बल तथा शरीर की अत्यन्त दृढ़ता [कायसम्पत्] यह शरीर की सम्पत्ति है।

भूतों पर विजय प्राप्त कर लेने से अर्थात् खानपान व्यायाम आदि क्रियाओं का उचित उपयोग करने से योगी को शरीर सम्बन्धी चार विशेष गुणों की प्राप्ति होती है, वे निम्न हैं -

१. **रूप**-शरीर का दर्शनीय बन जाना,
२. **लावण्य**- शरीर का कान्तिमान् = तेजस्वी बन जाना;
३. **बल**- असाधारण रूप से शरीर का बलवान् बन जाना और
४. **वज्रसंहनन**- शरीर के अवयवों का सुदृढ़ बन जाना यह शारीरिक ऐश्वर्य है। **(यह सिद्धि संभव कोटि में है।)**

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् इन्द्रियजयः ॥४७॥

[ग्रहण-स्वरूप-अस्मिता-अन्वय-अर्थवत्त्वसंयमात्] ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व; (इन्द्रियों के इन पाँच रूपों में) संयम करने से योगी [इन्द्रियजयः] इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

इन्द्रियों के पाँच रूपों में संयम करने से योगी इन्द्रियजित् बन जाता है अर्थात् वह इन्द्रियों के वश में न होकर, उनको अपने अधीन कर लेता है। ऐसा योगी अपनी इच्छा (= आवश्यकता) के अनुसार देखना, सुनना, खाना, पीना, बोलना, विचारना आदि इन्द्रियों के कार्य करता है। संसार के रूप, रस, गन्धादि विषय उसे बलात् अपनी ओर खींच नहीं सकते। इन्द्रियों के पाँच रूप निम्न लिखित हैं।

१. **ग्रहण** - नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा रूपादि विषयों को ग्रहण करना रूपी क्रिया को 'ग्रहण' कहते हैं।
२. **स्वरूप** - नेत्र आदि इन्द्रियों की अपनी जो रचना व आकार प्रकार है वह स्वरूप शब्द से कहा गया है।
३. **अस्मिता** - इन्द्रियाँ अहंकार नामक कारण तत्त्व से बनती हैं, इसी उपादान कारण को यहाँ 'अस्मिता' कहा गया है।
४. **अन्वय** - इन्द्रियाँ जिस उपादान कारण अहंकार से बनी हैं, वह अहंकार 'महत्तत्त्व' नामक कारण-पदार्थ से बना है और महत्तत्त्व का कारण प्रकृति (= सत्त्व, रजस् और तमस् का समुदाय) है। इस प्रकृति का इन्द्रियों में विद्यमान रहना 'अन्वय' शब्द से कहा गया है।
५. **अर्थवत्त्व** - अर्थवत्त्व शब्द का अर्थ है 'प्रयोजन वाला होना'। पाँच इन्द्रियाँ जीवों के भोग तथा अपवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध करती हैं। अतः इन इन्द्रियों में जीवों के प्रयोजन को सिद्ध करने का सामर्थ्य है। इन्द्रियों के इसी रूप को यहाँ 'अर्थवत्त्व' शब्द से क़हा गया है। **(यह सिद्धि संभव कोटि में हैं।)**

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

[ततः] उस इन्द्रिय जय से [मनोजवित्वम्] शरीर का तीव्र गति वाला होना [विकरणभावः] इन्द्रियों का विशेष शक्ति वाला होना [प्रधानजयः च] और प्रकृति के विकारों पर विजय प्राप्त कर लेना सिद्ध होता है।

पूर्वसूत्र में बताये अनुसार इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने से योगी को तीन प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं -

१. **मनोजवित्व** - शरीर की कार्य करने की गति अन्य साधारण लोगों की अपेक्षा बढ़ जाती है अर्थात् योगी कार्यों का सम्पादन शीघ्रता से करता है।

२. विकरणभाव - इन्द्रियाँ आदि करण विशेष शक्ति से युक्त हो जाते हैं अर्थात् मन इन्द्रियों की कार्य करने की क्षमता बढ़ जाती है।
३. प्रधानजय - कुछ प्राकृतिक पदार्थों पर योगी विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् पदार्थों को जानकर उनका उचित उपयोग करता है और अपने तथा दूसरों के प्रयोजन को सिद्ध कर लेता है। **(यह सिद्ध संभव कोटि में है।)**

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ।।४९।।

[सत्त्व-पुरुष-अन्यता-ख्यातिमात्रस्य] बुद्धि और जीव की भिन्नता जानने वाले योगी को [सर्वभाव-अधिष्ठातृत्वम्] अनेक पदार्थों का स्वामित्व [सर्वज्ञातृत्वम्-च) और अनेक वस्तुओं का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

जब योगी बुद्धि तथा जीवात्मा के पृथक्त्व को जानकर वैराग्य को प्राप्त कर लेता है, तब वह मन बुद्धि आदि पदार्थों का अधिष्ठाता - संचालक हो जाता है अर्थात् प्राकृतिक विकार (= रूप, रस आदि) उसको अपनी ओर आकृष्ट करके प्रभावित नहीं करते। यही 'सर्वभाव-अधिष्ठातृत्व' का अर्थ हैं।

वह योगी मन इन्द्रिय आदि साधनों को तथा रूप, रस, गन्ध आदि भौतिक विषयों को यथार्थ रूप में जान लेता है कि ये सब भौतिक पदार्थ जड़ हैं, परिणामी हैं, नाशवान् हैं, इसके विपरीत जीव और ईश्वर चेतन, अपरिणामी-नित्य हैं। यही सर्वज्ञातृत्व शब्द का अर्थ है। (योगी ईश्वर के समान कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता, चाहे कितना ही सिद्ध क्यों न हो जाये)। **(यह सिद्धि संभव कोटि में है।)**

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।।५०।।

[तद-वैराग्यात्-अपि] पूर्व सूत्र में बतायी सिद्धियों के प्रति भी वैराग्य हो जाने से [दोष-बीज-क्षये] दोषों के कारण का नाश हो जाने पर [कैवल्यम्] जीवात्मा का मोक्ष हो जाता है।

योगाभ्यास करते करते योगी को यह विवेक हो जाता है कि प्रकृति के समस्त विकार (जिसमें बुद्धि भी सम्मिलित है) त्रिगुणात्मक हैं तथा परिणामी हैं, इसलिए हेय (= त्याज्य) हैं। ऐसा ज्ञान हो जाने पर गत सूत्र में बतायी गयी समस्त सात्त्विक अवस्थाओं (= सिद्धियों) से भी उसे वैराग्य हो जाता है।

ऐसी स्थिति हो जाने पर क्लेशों का बीज = अविद्या नष्ट हो जाती

है । तब जीवात्मा 'भोग' की अवस्था से पृथक् होकर (ईश्वर के आनन्द का अनुभव करता हुआ) अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है । इस स्थिति के बाद शरीर छोड़ने पर वह जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है । **(यह सिद्धि संभव कोटि में है ।)**

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।।५१।।

[स्थानी-उपनिमन्त्रणे] समाज में विशेष स्थान रखने वाले व्यक्ति द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर [सङ्ग-स्मय-अकरणम्] योगी को भोगो में आसक्ति तथा अभिमान नहीं करना चाहिए इससे [पुन:] फिर [अनिष्टप्रसङ्गात्] दोष की प्रप्ति हो जाने से ।

योगाभ्यास में लगे हुए व्यक्ति को जब योग सम्बन्धी कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं तो समाज में प्रतिष्ठित=धनादि भोग साधनों से सम्पन्न व्यक्ति उसे अनेक प्रयोजनों के लिए सादर आमन्त्रित करते हैं । ऐसी अवस्था में उस योगी को न तो उन व्यक्तियों व वस्तुओं में आसक्त = रागी होना चाहिए और न ही अपने त्याग, तपस्या, योगविद्या आदि का अभिमान करना चाहिए । क्योंकि ऐसा करने से प्रमाद, आलस्य, राग, द्वेष, अविद्या आदि दोष पुन: उत्पन्न हो जाते हैं, जिन दोषों को उसने अव तक दबा रखा था या कमजोर कर दिया था । इन दोषों के पुन: उत्पन्न हो जाने से उसका योग मार्ग से पतन हो जाता है ।

क्षणतत्क्रमयो: संयमाद् विवेकजं ज्ञानम् ।।५२।।

[क्षणतत्क्रमयो:] क्षण तथा उसके क्रम में [संयमात्] संयम करने से [विवेकजम्] योगी का 'विवेकज' नामक [ज्ञानम्] ज्ञान उत्पन्न होता है ।

एक परमाणु गति करता हुआ जितने समय में एक पलटा खाता है, उतने समय का नाम क्षण है । उन क्षणों के प्रवाह का न टूटना 'क्रम' कहलाता है । प्राकृतिक वस्तुओं में जो परिवर्तन होता है, वह प्रत्येक क्षण में होता है । यही परिवर्तन वस्तु को उसके विनाश की ओर ले जाता है । जिन वस्तुओं में ऐसा परिवर्तन नहीं होता, वे वस्तुएँ नित्य कहलाती हैं । अत: क्षण तथा उसके क्रम में सयंम करने से नित्य और अनित्य सब प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है । इसका नाम 'विवेकज ज्ञान' है । **(यह सिद्धि संभव कोटि में है ।)**

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्तत: प्रतिपत्ति: ।।५३।।

[जाति-लक्षण-देशै:] जाति, लक्षण और देश से [अन्यता-अनवच्छेदात्]

भेद का ज्ञान न होने से [तुल्ययो:] दो समान वस्तुओं में [ततः] उस विवेकज ज्ञान से [प्रतिपत्तिः] भेद का ज्ञान हो जाता है ।

पदार्थों की भिन्नता का ज्ञान जातिभेद, लक्षणभेद तथा देशभेद से होता है ।

१. जातिभेद-एक स्थान पर समान रंगरूप की गाय और घोड़ी बंधी है । उन दोनों की भिन्नता जानने में कारण जातिभेद होगा;
२. लक्षणभेद-एक स्थान पर दो गायें बंधी वहाँ भिन्नता का कारण लक्षण भेद होगा, अर्थात् लाल और काला रंग;
३. देशभेद-एक ही स्थान पर आसपास, समान आकार प्रकार के दो आँवले रखें हों तो वहाँ पर भिन्नता का कारण देशभेद होगा अर्थात् दिशाभेद । एक आँवला उत्तर दिशा में रखा है और दूसरा दक्षिण दिशा में ।

उन दों आँवलों को देखने वाले व्यक्ति के किसी अन्य कार्य में व्यस्त होने पर,कोई दूसरा व्यक्ति उन दो समान आँवलों को भिन्न दिशा में रख देवे (पूर्व और पश्चिम दिशा में) तो पहला व्यक्ति यह पहचान नहीं कर सकता कि वे दो आँवले पहले किस दिशा में रखे थे । किन्तु योगी व्यक्ति (देश के साथ) क्षण तथा क्रम में संयम करके उनके भेद को जान सकता है । (यह बात अभी परीक्षा कोटि में है ।)

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ।।५४।।

[तारकम्] प्रतिभा से उत्पन्न होने वाला [सर्वविषयम्] अनेक विषयों वाला [सर्वथाविषयम्] भूत-भविष्यत तथा वर्तमान की वस्तुओं के विषय वाला [अक्रमम् च] और जिसका क्रम प्रतीत न होवे [विवेकजम्-ज्ञानम्] विवेकज ज्ञान होता है [इति] ऐसा ।

विवेकज ज्ञान में सामान्य ज्ञान की अपेक्षा चार विशेष लक्षण होते हैं, वे निम्न प्रकार से हैं —

१. तारकम् - यह विवेकज ज्ञान किसी अन्य व्यक्ति के उपदेश से उत्पन्न न होकर, योगी की अपनी प्रतिभा से उत्पन्न होता है ।
२. सर्वविषयम् - यह अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है ।
३. सर्वथाविषयम् - यह ज्ञान वर्तमान के अतिरिक्त भूत तथा भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के विषय में भी होता है ।
४. अक्रमम् - इस ज्ञान का क्रम प्रतीत नहीं होता अर्थात् अनेक ज्ञान शीघ्रता से उत्पन्न होते हैं ।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥५५॥

[सत्त्व-पुरुषयोः] बुद्धि और आत्मा की [शुद्धिसाम्ये] समानरूप से शुद्धि होने पर [कैवल्यम्] जीवात्मा का मोक्ष हो जाता है [इति] यहाँ तीसरा पाद समाप्त होता है ।

आत्मा स्वभाव से नित्य शुद्ध है; किन्तु बुद्धि अविद्या आदि मलों से अशुद्ध बनी रहती है । बुद्धि की अशुद्धि के कारण आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं कर पाता है, इसी स्थिति को ही 'आत्मा की अशुद्धि' कहा जाता है । आत्मा की अशुद्धि का मूल कारण अविद्या है । जब योगी योगाभ्यास द्वारा इस अविधा को दग्धबीजभाव अवस्था में पहुँचा देता है, तब वह मोक्ष को प्राप्त करता है, और मोक्ष में ईश्वर के नित्य व पूर्ण आनन्द का भोग करता है । (यह सिद्धि संभव कोटि में है ।)

इति तृतीयः पादः

चतुर्थ : कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ।।१।।

[जन्म-ओषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः] जन्म से, औषधि से, मन्त्र से तप से और समाधि से उत्पन्न (= प्राप्त) होने वाली [सिद्धयः] सिद्धियाँ (पाँच प्रकार की होती हैं) ।

१. **जन्म-सिद्धि** - जो सिद्धि जन्म से प्राप्त हो, वह जन्मजा सिद्धि कहलाती है । पूर्व जन्म में किये गये सुकर्मों व योगाभ्यास के कारण जो सिद्धि इस जीवन में बिना विशेष पुरुषार्थ किये ही प्राप्त हो जाती है, वह जन्म-सिद्धि है ।
२. **ओषधि-सिद्धि** - ओषधियों व रसायन विशेष का प्रयोग करके, शरीर तथा इन्द्रियों आदि में जो दिव्य शक्ति उत्पन्न की जाती है, वह ओषधि-सिद्धि कहलाती है ।
३. **मन्त्र-सिद्धि** - प्रणव (= ओम्) गायत्री आदि मन्त्रों के जपसे(= अर्थ के चिन्तन-सहित) अपने मन व बुद्धि को एकाग्र एवं पवित्र बनाना मन्त्र-सिद्धि कहलाती है ।
४. **तप-सिद्धि** - तप से प्राप्त होने वाली सिद्धि तपःसिद्धि कहलाती है । यम-नियमों का सूक्ष्मता से पालन करने से जो द्वन्द्वों (= भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि) को सहन करने रूप शक्ति प्राप्त होती है, वह तपःसिद्धि कहलाती है ।
५. **समाधि-सिद्धि** - योगाभ्यास से समाधि की प्राप्ति होती है । समाधि से जो विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वे समाधि-सिद्धियाँ हैं, इनका वर्णन पिछले (विभूति) पाद में कर दिया गया है ।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ।।२।।

[जाति-अन्तर-परिणामः] (शरीर-इन्द्रियों का) अन्य प्रकार की अवस्था में बदल जाना [प्रकृति-आपूरात्] उपादान कारणों की पूर्ति होने से होता है ।

उपादान कारणों (= भोज्य पदार्थ-घी, दूध, फलादि) से शरीर-इन्द्रियों की पूर्व (= निर्बल-कृश) अवस्था बदलकर नई (बलवान्-पुष्ट) अवस्था-स्थिति बन जाती है, इसे ही 'जात्यन्तरपरिणाम' शब्द से सूत्र में कहा है ।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।।३।।

[निमित्तम्] (शरीर इन्द्रियों की पुष्टि में बाधक-रोगादि को दूर करना रूपी)

कारण [अप्रयोजकम्] सीधा प्रेरक नहीं होता [प्रकृतीनाम्] पाँच भूतों (= उपादान तत्त्वों) का [वरणभेदः तु] किन्तु बाधाओं का नाश होता है [ततः] उस कारण से [क्षेत्रिकवत्] किसान के कार्य के समान ।

शरीर व इन्द्रियों को उत्कृष्ट बनाने में जो उपादान कारण = पाँच भूत होते हैं, उनको चिकित्सा आदि कारण शरीर इन्द्रियों में प्रवेश करने के लिए प्रेरित नहीं करता किन्तु शरीर इन्द्रियों के उत्कृष्ट बनने में जो बाधाएँ (रोगादि) होती हैं, उन बाधाओं का नाश तो चिकित्सा आदि से होता है ।

जैसे एक किसान एक खेत से दूसरे खेत में पानी ले जाने के लिए पानी को हाथों से खींच कर नहीं ले जाता बल्कि पानी को रोकने वाली मेढ़ को तोड़ देता है । मेढ़ के टूट जाने से, उस खेत में पानी अपने आप चला जाता है । ऐसे ही चिकित्सा आदि से रोगों की समाप्ति हो जाती है । शरीर के रोग रहित हो जाने पर उचित खान पान आदि शरीर को स्वयं ही पुष्ट कर देते हैं ।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।।४।।

[निर्माण-चित्तानि] योगी चित्तों को उत्कृष्ट बनाता है [अस्मिता-मात्रात्] 'अहंकार' नामक तत्त्व से (बने हुए चित्तों को) ।

योगी अष्टांग योग के आचरण से अपने चित्त में उत्तरोत्तर अनेक उत्कृष्ट अवस्थाएँ उत्पन्न कर लेता है, यही 'निर्माणचित्तानि' शब्द का अभिप्राय है । यहाँ बहुवचन अनेक चित्तों के लिए नहीं है, बल्कि एक ही चित्त में अनेक अवस्थाएँ दिखाने के लिए है ।

जैसे एक व्यक्ति को प्रारंभिक अवस्था में अधिक क्रोध आता था । योगाभ्यास करने से कालान्तर में उसके चित्त की स्थिति में सुधार हो जाने से उसे क्रोध कम आने लगा, कालान्तर में बिल्कुल छूट गया । इस प्रकार से उसने योगाभ्यास के माध्यम से अपने चित्त का निर्माण किया अर्थात् चित्त में अनेक उत्कृष्ट अवस्थाएँ उत्पन्न कीं ।

कुछ लोग इस सूत्र का ऐसा अर्थ करते हैं कि "योगी अहंकार नामक तत्त्व को लेकर नये नये अनेक चित्त बना लेता है" । इस सूत्र का ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है क्योंकि अहंकार नामक तत्त्व को लेकर नये नये चित्तों का निर्माण करने में किसी भी जीव का सामर्थ्य नहीं हो सकता ।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।।५।।

[प्रवृत्ति-भेदे] प्रवृत्ति-कार्य के भिन्न-भिन्न होने पर (भी) [प्रयोजकम्] प्रेरक [चित्तम्] चित्त [एकम्] एक (योगी का ही होता है) [अनेकेषाम्] अनेक चित्तों का ।

योगाभ्यास से जब योगी के चित्त की अनेक अवस्थाएँ क्रमशः उत्पन्न होती हैं तब भिन्न अवस्थाओं में चित्त में जो भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सब प्रवृत्तियों का आधार योगी का वही एक मूलचित्त ही होता है ।

जैसे चित्त की निम्न अवस्था होने पर विषय भोगों में सुख, स्वस्वामी सम्बन्ध उत्पन्न होना आदि प्रवृत्तियाँ होती हैं, और उसी चित्त की उत्कृष्ट अवस्था होने पर योगी के चित्त में समाधि, सेवा, दया, परोपकार आदि की प्रवृतियाँ होती हैं ।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ।।६।।

[तत्र] सूत्र ४-१ में कहे गये उन पाँच प्रकार के चित्तों में से [ध्यानजम्] जो समाधि द्वारा उत्कृष्ट बनाया गया (चित्त) [अनाशयम्] वासना रहित होता है ।

सूत्र ४-१ के अनुसार चित्त का निर्माण पाँच प्रकार से होता है । उन पाँच प्रकार के चित्तों में से जो चित्त ध्यान = समाधि से उत्तम बनाया जाता है, वह चित्त वासना रहित होता है । तात्पर्य यह है कि ऐसा चित्त राग, द्वेष आदि के संस्कारों से रहित होकर कार्य करता है । जबकि अन्य (चार प्रकार के चित्त वाले) लोगों के चित्त में राग द्वेष आदि के संस्कार उपलब्ध होते हैं । उन संस्कारों से प्रेरित होकर वे शुभ-अशुभ कार्य करते हैं ।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।।७।।

[कर्म] कर्म [अशुक्ल-अकृष्णम्] न शुक्ल होते हैं न कृष्ण (अर्थात् निष्काम होते हैं) [योगिनः] योगी के [त्रिविधम्] तीन प्रकार के (कर्म होते हैं) [इतरेषाम्] अन्य व्यक्तियों के (योगी से भिन्न अयोगियों के) ।

योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण हैं । अशुक्ल-अकृष्ण का अर्थ है निष्काम कर्म । ऐसे कर्म सांसारिक फल की कामना से रहित होते हैं और ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल तथा ईश्वर की प्राप्ति के लिए ही किये जाते हैं । इन कर्मों के मूल में राग-द्वेषादि कारण नहीं होते ।

योगी से भिन्न अयोगी = सांसारिक व्यक्तियों के कर्म शुभ (= पुण्य),

अशुभ (= पाप) तथा मिश्रित (पाप + पुण्य दोनों से युक्त) होते हैं। ऐसे कर्म सांसारिक फल की कामना से युक्त होते हैं तथा रागद्वेष से प्रेरित होकर किये जाते हैं।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥८॥

[ततः] उन तीन प्रकार के कर्मों से [तद्-विपाक-अनुगुणानाम्] उन कर्मों के फल के अनुरूप [एव] ही [अभिव्यक्तिः] अभिव्यक्ति होती है [वासनानाम्] वासनाओं = संस्कारों की।

शुभ, अशुभ और मिश्रित इन तीन प्रकार के कर्मों से मिलने वाले फलों के अनुसार ही वासनाएँ-संस्कार प्रकट होते हैं।

कर्मों का फल ईश्वर की व्यवस्था से प्राप्त होता है। शुभ व अशुभ दोनों कर्म समान मात्रा में होने अथवा शुभ कर्मों की अधिकता होने पर ईश्वर मनुष्य शरीर प्रदान करता है। मनुष्य शरीर प्राप्त करने पर उन्हीं संस्कारों की अभिव्यक्ति होती है, जिन संस्कारों से जीवात्मा मनुष्य शरीर में खाना-पीना, लेना-देना, पढ़ना-लिखना आदि व्यवहार कर सकता है।

यदि अशुभ कर्मों की अधिकता है तो पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि का शरीर प्राप्त होता है, तथा मुख्य रूप से उस उस शरीर के अनुसार ही संस्कार प्रकट होते हैं, अन्य शरीर वाले नहीं। जैसे ऊँट के शरीर में कीकर-कांटे आदि खाने के संस्कार प्रकट होते हैं, माँस खाने के नहीं। माँस खाने के संस्कार शेर आदि के शरीर में प्रकट होते हैं, ऊँट आदि के शरीर में नहीं।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥९॥

[जाति-देश-काल-व्यवहितानाम्] जाति, देश तथा काल के व्यवधान से युक्त हुई (वासनाओं की) [अपि] भी [आनन्तर्यम्] समीपता है [स्मृति-संस्कारयोः] स्मृति और संस्कार की [एकरूपत्वात्] एक रूपता होने से।

आत्मा में विभिन्न योनियों के संस्कार सुप्त पड़े रहते हैं। जीवात्मा अपने कर्म फलों को भोगने के लिए, ईश्वर की व्यवस्था से जिस योनि को प्राप्त करता है, वह योनि (= शरीर) उसी शरीर के संस्कारों को उभारने में कारण बनता है, अन्य शरीर के संस्कारों को नहीं उभारता। वे संस्कार उत्पन्न होकर अपने अनुरूप स्मृति को उत्पन्न कर देते हैं। उस स्मृति से पुनः जीवात्मा वर्तमान में प्राप्त शरीर के अनुरूप ही नये संस्कारों = खाने, पीने, भोगने आदि की

इच्छा को उत्पन्न करता है।

उदाहरण - एक आत्मा पचासों विभिन्न पशु-पक्षी आदि शरीरों को प्राप्त करके अब दुबारा ऊँट का शरीर प्राप्त करता है। सैकड़ों वर्ष पहले उसने इसी प्रकार का ऊँट का शरीर प्राप्त किया था। वर्तमान में प्राप्त ऊँट का शरीर पहले के ऊँट के शरीर में भोगे गये (कंटीले वृक्ष के पत्तों को चबाना आदि) संस्कारों को जगाने में कारण बन जायेगा। वर्तमान तथा पूर्व के ऊँट के शरीरों के बीच पचासों विभिन्न शरीरों का, सैकड़ों वर्षों का तथा भिन्न-भिन्न देशों (= स्थानों) का व्यवधान भी पूर्व के संस्कारों को जगाने में बाधक नहीं बनेगा।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

[तासाम्] उन वासनाओं का [अनादित्वम्] अनादि होना (भी सिद्ध है) [आशिषः] आत्मा की इच्छा के [नित्यत्वात्] नित्य होने से।

जीवात्मा की यह इच्छा सदा रहती है कि मैं मरूं नहीं, सदा सुखी रहूँ, कभी दुःखी न होऊँ। इन इच्छाओं के कारण जीवात्मा सुख को प्राप्त करने, दुःख को हटाने तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के कर्म करता है। इन कर्मों के करने से इसी प्रकार के संस्कार जीवात्मा पर पड़ते हैं। क्योंकि सुख प्राप्ति आदि की इच्छाएँ नित्य-सदा से हैं इसलिए इन इच्छाओं व कर्मों से बनने वाले संस्कार भी लम्बे काल से जीवात्मा के साथ लगे रहते हैं।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥११॥

[हेतु-फल-आश्रय-आलम्बनैः] हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन (इन चार कारणों) से (वासनाओं के) [संगृहीतत्वात्] उत्पन्न होने-बनने से [एषाम्] इन हेतु आदि कारणों के [अभावे] न रहने पर [तद्-अभावः] उन वासनाओं का अभाव हो जाता है।

१. हेतु – वासनाओं के बनने के पीछे मूल कारण अविद्या है। इस अविद्या से युक्त होकर ही व्यक्ति धर्म-अधर्म का आचरण करता है। धर्म से सुख तथा अधर्म से दुःख की अनुभूति करता है। सुख के प्रति राग तथा दुःख के प्रति द्वेष भावना = संस्कार बनते हैं। इस प्रकार से अविद्या संस्कारों की उत्पत्ति में कारण बनती है, जिसे सूत्र में 'हेतु' शब्द से कहा गया है।

२. फल – मुझे अच्छा शरीर मिले, लम्बी आयु मिले, उत्तम भोग सामग्री मिले, ऐसा उद्देश्य बनाकर ही व्यक्ति धर्म-अधर्म का आचरण करता है। इस आचरण

के फल स्वरूप जो उसे सुख-दुःख की प्राप्ति होती है, वही फल है, जो कि संस्कारों की उत्पत्ति का कारण बनता है।

३. **आश्रय**—जिस मन में अविद्या, राग, द्वेष आदि के संस्कार विद्यमान रहते हैं, वही मन इन वासनाओं का आधार है। ऐसे मन में वासनाएँ स्थित रहती हैं।

४. **आलम्बन**—जो वस्तु, व्यक्ति के सामने उपस्थित होकर, जिस वासना को जगाती है, वह वस्तु उस वासना विशेष का आलम्बन कहलाती है। जैसे सुन्दर रूप काम वासना को उत्पन्न करने के कारण, काम वासना का आलम्बन बनता है।

उपर्युक्त चार कारणों से वासनाओं का संग्रह होता रहता है। जब ये चारों कारण वासनाओं की उत्पत्ति में सक्षम नहीं रहते तब पूर्व वासनाओं का अभाव (= विनाश) हो जाता है और नये संस्कार नहीं बनते हैं।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम् ।।१२।।

[अतीत-अनागतम्] भूतकालिक तथा भविष्यत् कालिक (वस्तु का धर्म) [स्वरूपतः] स्वरूप से [अस्ति] बना रहता है [अध्वभेदात्] काल के आधार पर मार्ग (= स्थिति) भेद होने से [धर्माणाम्] धर्मों का (पदार्थों का)।

वस्तु तत्त्व अपने अस्तित्व को कभी नहीं खोता। जब कार्य अपने कारण में छिपा रहता है—आगे प्रकट होगा वह 'अनागत' है। जब कार्य प्रकाश में आ गया है = प्रकट हो गया है, तब 'वर्तमान' है। और जब कार्य प्रकट होकर फिर अपने कारण में छिप जाता है, तब वह 'अतीत' है।

पूर्व सूत्र में कहा है कि वासनाओं का अभाव हो जाता है, परन्तु जिस वस्तु की सत्ता हो, उसका अभाव कैसे हो सकता है ? इसका समाधान इस सूत्र में किया गया है। वासनाओं का अभाव होने का तात्पर्य है कि वासनाएँ योगी पुरुष से पृथक् हो जाती हैं। क्योंकि सूत्र में कहा है कि जो वस्तु भावात्मक है, उसका अभाव कभी नहीं हो सकता।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ।।१३।।

[ते] वे (वस्तु के धर्म-गौ, घटादि कार्यपदार्थ) [व्यक्त-सूक्ष्माः] प्रकट और अप्रकट [गुणात्मानः] सत्त्वादि गुणों के ही रूप हैं।

सत्त्व, रजस् और तमस् इन गुणों (= मूल द्रव्यों) से ही जगत् के समस्त

पदार्थ उत्पन्न होते हैं । अतः जो भी कार्यरूप वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, वे सत्त्वादि मूल द्रव्यों का ही रूप होती हैं ।

इन कार्य वस्तुओं के बनने-बिगड़ने सम्बन्धी तीन स्थितियाँ होती हैं । प्रथमस्थिति-जब महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वी आदि तक समस्त कार्य पदार्थ बनकर प्रकट हो जाते हैं, तो यह इन कार्य-द्रव्यों का व्यक्त (= प्रकट) रूप कहलाता है । और जब महत्तत्त्वादि कार्य पदार्थ बने नहीं होते अथवा बनकर नष्ट हो चुके हों, तब ये दो स्थितियाँ इन कार्य द्रव्यों का सूक्ष्म (= अप्रकट) रूप कहलाता है ।

शंका-जगत् में दिखाई देने वाली प्रत्येक वस्तु अनेक अवयवों के संघटन = जोड़ से बनती है, तो उसे एक वस्तु न मानकर संघात मानना चाहिए ?
समाधान-

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥१४॥

[परिणाम-एकत्वाद्] (तीन गुणों का) परिणाम एक रूप से उत्पन्न हो जाने से [वस्तुतत्त्वम्] वस्तु में एकपन उत्पन्न हो जाता है ।

सत्त्व, रजस्, तमस्, ये तीन गुण परस्पर मिलकर जिस परिणाम को उत्पन्न करते हैं वह प्रत्यक्ष से एक वस्तु रूप में जाना जाता है । तात्पर्य यह है कि अनेक कारण अवयवों के संघात से (= मिलने से) उनका परिणाम एक होने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती । अतः उस वस्तु में एकत्व का व्यवहार होने लगता है, जैसे एक गौ, एक घड़ा आदि ।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

[वस्तुसाम्ये] वस्तु के एक होने पर (भी) [चित्तभेदात्] चित्तों के भिन्न होने से [तयोः] वस्तु तथा ज्ञान का [विभक्तः] भिन्न है [पन्थाः] मार्ग (= अस्तित्व) ।

कोई भी वस्तु अपने स्वरूप में स्थिर होती है, किन्तु उसको देखने वाले मनुष्यों का चित्त अलग अलग ज्ञान वाला होने से वह एक ही वस्तु भिन्न भिन्न रूपों वाली दिखाई देती है । जैसे किसी व्यक्ति को उसका मित्र देखता है तो मित्र को सुख होता है । यदि उसी व्यक्ति को उसका शत्रु देखता है तो शत्रु को दुःख होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि चित्त तथा वस्तु एक नहीं है, दोनों का अस्तित्व भिन्न भिन्न है ।

शंका-बाहर दिखाई देने वाली घटादि वस्तु का अस्तित्व चित्त पर ही निर्भर करता है । क्योंकि चित्त के द्वारा जानने पर ही वस्तु का ज्ञान होता है,

न जानने पर नहीं होता है-उस वस्तु की सत्ता नहीं रहती । अतः वस्तुओं की सत्ता चित्त द्वारा कल्पित है, वास्तविक नहीं । **समाधान-**

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।।१६।।

[न] नहीं है [च-एकचित्ततन्त्रं वस्तु] और एक चित्त के अधीन वस्तु [तद्] वह (बाहर. स्थित) वस्तु [अप्रमाणकम्] प्रमाण रहित हो (ज्ञान न हो रहा हो) [तदा] तब [किम्] क्या [स्यात्] होगा ।

नेत्र आदि इन्द्रियों से दिखाई देने वाली बाहर स्थित घटादि वस्तु चित्त द्वारा कल्पित हो, ऐसा नहीं है । यदि वस्तु चित्त से कल्पित होती तो नेत्रादि इन्द्रियों से उस वस्तु को न देखने पर उसका अभाव हो जाना चाहिए, ऐसा तो नहीं होता । अर्थात् किसी घटादि वस्तु को एक व्यक्ति देखना बन्द कर दे तो घड़ा नष्ट नहीं हो जाता, दूसरे व्यक्ति को उस समय भी घड़ा दिखाई देता रहता है । इसलिए बाह्य वस्तु का अस्तित्व चित्त की कल्पना पर आधारित न होकर, वस्तु के अपने स्वतंत्र उपादान कारणों पर आधारित होता है । अतः उपर्युक्त प्रमाण से यह सिद्ध है कि चित्त से वस्तु भिन्न है, उसकी सत्ता का कोई निषेध नहीं कर सकता ।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ।।१७।।

[तद्-उपराग-अपेक्षित्वात्] वस्तु के सम्बन्ध की अपेक्षा रखने वाला होने से [चित्तस्य] चित्त के [वस्तु] बाह्य वस्तु [ज्ञात -अज्ञातम्] ज्ञात और अज्ञात रहती है ।

ज्ञान गुण आत्मा का है, जड़ मन, इन्द्रियों का नहीं । किन्तु बाहर स्थित वस्तु का ज्ञान आत्मा को तब हो पाता है, जब चित्त का सम्बन्ध बाहर स्थित वस्तु के साथ हो जाये । जिस वस्तु के साथ चित्त का उपराग-सम्बन्ध होता है, चित्त उसी वस्तु का ज्ञान आत्मा को कराता है, और जिस वस्तु के साथ चित्त का सम्बन्ध नहीं रहता उस वस्तु का ज्ञान आत्मा को नहीं कराता ।

इस प्रक्रिया में चित्त का जिस जिस बाह्य वस्तु (घड़ा आदि) के साथ सम्बन्ध होता है, चित्त उस उस वस्तु के स्वरूप वाला बनता रहता है, इसलिए चित्त को परिणामी कहा गया है ।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।।१८।।

[सदा] सदा [ज्ञाताः] ज्ञात रहती हैं (जीवात्मा को) [चित्तवृत्तयः] चित्त

की वृत्तियाँ [तत्-प्रभोः] उस चित्त के स्वामी [पुरुषस्य] जीवात्मा के [अपरिणामित्वात्] अपरिणामी होने से ।

पूर्व सूत्र में बताया गया था कि चित्त को अपने बाह्य विषय कभी ज्ञात रहते हैं, कभी अज्ञात रहते हैं, किन्तु आत्मा को अपने चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं अर्थात् चित्त में जो जो वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें जीवात्मा सदा जानता रहता है । सूत्र ४-१७ में जड़ चित्त को स्वरूप बदलने वाला (= परिणामी) बताया गया है वैसा चेतन जीवात्मा परिणामी नहीं है, क्योंकि जीवात्मा अवयवों का समुदाय रूप नहीं है । स्वरूप परिवर्तन संघात रूप द्रव्यों में ही होता है ।

न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥१९॥

[न] नहीं है [तत्] वह चित्त [स्वाभासम्] स्वयं ज्ञाता [दृश्यत्वात्] दृश्य = जड़ होने से ।

चित्त बाह्य वस्तुओं को दिखाने में आत्मा का एक साधन (= उपकरण) तो है, किन्तु अपनी वृत्तियों का वह स्वयं द्रष्टा या ज्ञाता नहीं है, क्योंकि चित्त त्रिगुणात्मक जड़ है । द्रष्टा व ज्ञाता तो अपरिणामी-चेतन आत्मा ही है ।

भूमिका–किन्हीं लोगों का विचार है कि चित्त तथा घटादि प्रत्येक वस्तु एक क्षण तक ही स्थिर रहती है, अगले क्षण वह नष्ट होकर सर्वथा नई वस्तु बनती है । उनकी यह भी मान्यता है कि चित्त ही ज्ञाता है, वही घटादि वस्तुओं को जानता है । यदि उनके मतानुसार चित्त और घटादि वस्तुओं को एक क्षण तक स्थिर रहने वाला मान लिया जाये तो व्यवहार सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥२०॥

[एकसमये] एक ही काल (= क्षण) में [च] और [उभय-अनवधारणम्] दोनों (चित्त का अपना तथा घटादि बाह्य विषय) का ज्ञान नहीं हो सकता ।

एक ही काल (= क्षण) में चित्त को अपना तथा अपने से भिन्न घटादि विषय का (दोनों का) ज्ञान नहीं होता, क्योंकि चित्त एक क्षण में एक ही वस्तु का ज्ञान कर पाता है, चित्त का इतना ही सामर्थ्य है । एक क्षण में चित्त अपना ही ज्ञान कर पाता है कि मैं जान रहा हूँ, परन्तु जैसे ही चित्त विषय को निर्धारित करने लगता है तो दूसरा क्षण उपस्थित हो जाता है तब चित्त स्वयं ही नष्ट हो जाता है । इसलिए चित्त घटादि वस्तुओं का निश्चय नहीं कर पाता । परन्तु

व्यवहार में हम देखते हैं कि आत्मा चित्त के माध्यम से अपना और घटादि वस्तुओं का भी निश्चय करता है कि मैं ज्ञाता हूँ तथा घटादि विषय मेरे ज्ञेय हैं। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा, चित्त तथा घटादि अन्य वस्तुएँ एक क्षण तक रहने वाली नहीं हैं, बल्कि बहुत काल तक रहने वाले स्थिर पदार्थ हैं। यदि चित्त ही ज्ञाता होता और वह क्षण स्थायी होता तो अगले क्षणों में ज्ञाता चित्त के नष्ट हो जाने पर ज्ञान प्राप्त करने वाला और स्मरण आदि करने वाला कौन होगा ?

भूमिका—क्षणिकवादी (= वस्तुओं की सत्ता एक क्षण तक मानने वाले) लोग इस आपत्ति का यह समाधान करते हैं कि अगला चित्त पिछले क्षण में नष्ट हुए चित्त से ज्ञान और स्मृतियाँ प्राप्त करता जायेगा, और वही अगला चित्त ज्ञाता व स्मरणकर्त्ता भी होगा परन्तु इस पक्ष में भी यह दोष आता है कि—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥२१॥

[चित्तान्तरदृश्ये] एक चित्त दूसरे चित्त का दृश्य बन जावे (ऐसा मानने पर) [बुद्धि-बुद्धेः] अगले चित्त द्वारा पिछले चित्त को जानने का [अति प्रसङ्गः] अनवस्था दोष आता है [स्मृतिसंकरः च] और स्मृतियों का परस्पर मिश्रण (दोष) भी प्राप्त हो जायेगा।

क्षणिकवादी चित्त को ही ज्ञाता माने और कहे कि पूर्वक्षण वाला चित्त, दूसरे (अगले) क्षणवाले चित्त से जाना जायेगा, दूसरे क्षण वाला चित्त तीसरे क्षणवाले चित्त से । इस स्थिति में तो अनवस्था दोष उपस्थित होगा, अर्थात् अगला चित्त पिछले क्षणवाले चित्त को जाने, यह क्रम कभी समाप्त नहीं होगा । दूसरा दोष यह भी आयेगा कि असंख्य चित्तों की असंख्य स्मृतियाँ भी आपस में घुलमिल जायेंगी । इसलिए यह सिद्ध है कि चित्त अपना ज्ञाता नहीं है, बल्कि चित्त से भिन्न नित्य-चेतन-द्रष्टा जीवात्मा इस जड़ चित्त का ज्ञाता है, और ये सब चित्त आदि पदार्थ स्थायी भी हैं ।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।।२२।।

[चितेः अप्रतिसंक्रमायाः] अपरिणामी जीवात्मा के [तद्-आकारापत्तौ] चित्त के स्वरूप से सम्बद्ध होने पर (जीव को) [स्व-बुद्धि-संवेदनम्] अपने ज्ञान का अनुभव हो जाता है ।

जीवात्मा अपरिणामी-विकार रहित है, अर्थात् विषयों की ओर गति भी नहीं करता है और विषयों में घुलता-मिलता भी नहीं है । इन्द्रियों के माध्यम से चित्त घटादि विषयों को ग्रहण करता है । चित्त में जो घट आदि विषय उपस्थित होते हैं, उनको जीवात्मा जानना चाहता है, ऐसी स्थिति में जीवात्मा चित्त से सम्बद्ध होता है । तब आत्मा को चित्त के सम्पर्क से अपने अन्दर आये हुए ज्ञान की अनुभूति होती है कि मैं घट को जान रहा हूँ ।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।।।२३।।

[द्रष्टृ-दृश्य-उपरक्तम्] द्रष्टा (= जीवात्मा) तथा दृश्य (घटादि विषय) से रंगा हुआ (= उनके धर्मों से सम्बद्ध हुआ) [चित्तम्] चित्त [सर्वार्थम्] सब रूपों वाला प्रतीत होता है, और 'सर्वार्थ' नाम से कहा जाता है ।

चित्त बाहर के रूपादि विषयों का ज्ञान कराता है, चित्त अपना तथा जीवात्मा का भी ज्ञान कराता है । जब जीवात्मा चित्त के माध्यम से बाह्य विषयों को जानता है तब चित्त 'ग्रहण' नाम से कहा जाता है; और इसी स्थिति में चित्त गौण रूप से बाह्य रूपादि विषयों का 'ग्रहीता' भी होता है । जब जीवात्मा चित्त को ही देखने लगता है तब चित्त 'ग्राह्य' कहलाता है । इस प्रकार ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीता रूप होने से चित्त को 'सर्वार्थम्' नाम से कहा जाता है ।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।।२४।।

[तद्] वह चित्त [असंख्येय-वासनाभिः] अनगिनत वासनाओं से [चित्रम् अपि] रंगा हुआ (युक्त हुआ) भी [परार्थम्] अन्य के लिए होता है [संहत्यकारित्वात्] संघातरूप होकर जीवात्मा के प्रयोजन सिद्ध करने वाला होने से ।

जीवात्मा जो जो शुभ-अशुभ कर्म करता है, उनके संस्कार (= चित्र) चित्त पर बनते जाते हैं । जन्म-जन्मान्तरों से बनते आ रहे असंख्य संस्कार चित्त पर चित्रित हैं । किन्तु इन संस्कारों से चित्त स्वयं कोई लाभ या हानि नहीं उठाता । उनसे अनुकूल या प्रतिकूल जैसी भी अनुभूति होती है, वह सब जीवात्मा को ही होती है । इसका कारण है चित्त का संहत्यकारी होना ।

संसार में जितने भी प्राकृतिक पदार्थ हैं, वे सत्त्व, रजस्, तमस् के योग से बने हैं । जो पदार्थ तीन गुणों से बना होता है, वह 'अन्य के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला होता है', यह सिद्धांत है । चित्त भी एक प्राकृतिक पदार्थ है और सत्त्व, रजस्, तमस् का संघात है । इसलिए चित्त संघातरूप वस्तु होने के कारण पर=जीवात्मा का प्रयोजन=साधन=उपकरण है ।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ।।२५।।

[विशेष-दर्शिनः] विशेष ज्ञानी की [आत्मभाव-भावना-विनिवृत्तिः] आत्मा विषयक जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है ।

योगी व्यक्ति जब ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के स्वरूप को पृथक् पृथक् जान लेता है, तो उसकी आत्मा के सम्बन्ध में जितनी भी जिज्ञासाएँ = शंकाएँ होती हैं, उन सब का समाधान हो जाता है । जैसे कि 'मैं आत्मा हूँ', 'नित्य हूँ', 'चेतन हूँ', 'शरीर से अलग हूँ', 'अविद्या के कारण जन्म-मृत्यु के चक्र में बंधा हूँ', 'ईश्वर की प्राप्ति करके मैं मुक्त हो सकता हूँ', इत्यादि ।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।।२६।।

[तदा] तब [विवेकनिम्नम्] विवेकमार्ग की ओर चलनेवाला [कैवल्य-प्राग्-भारम्] मोक्ष प्राप्त कराने के सामर्थ्य वाला [चित्तम्] चित्त हो जाता है ।

अज्ञान के कारण जो चित्त पहले विषय भोगों तथा पाप कर्मों की ओर लगा हुआ था, वही चित्त अब योगी को विवेक ज्ञान के कारण मुक्ति को प्राप्त कराने तथा पुण्यकर्मों की ओर चलाने के सामर्थ्य वाला हो जाता है ।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

[तत्-छिद्रेषु] विवेक ज्ञान का प्रवाह टूटने पर बीच में [प्रत्यय-अन्तराणि] लौकिक ज्ञान (भी उत्पन्न होते हैं) [संस्कारेभ्यः] (पूर्व संगृहीत भोग के) संस्कारों के कारण से ।

विवेक मार्ग पर चलने वाले अपरिपक्व योगी के चित्त में कभी कभी सांसारिक विषय भोगों के विचार भी उभरते रहते हैं, जो 'मैं और मेरा' से सम्बन्धित होते हैं। अर्थात् धन, सम्पत्ति, बल, विद्या, बुद्धि आदि मेरी सम्पत्ति है और मैं इन सब का स्वामी हूँ, मैं भोक्ता हूँ और संसार भोग्य है, इत्यादि । इन सांसारिक विचारों का कारण चित्त पर बने हुए वे लौकिक संस्कार हैं, जो निर्बल तो हो गये हैं, किन्तु अभी तक नष्ट नहीं हुए हैं ।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥२८॥

[हानम्] नाश [एषाम्] इन लौकिक संस्कारों का [क्लेशवद्] क्लेशों के (नाश के) समान ही [उक्तम्] कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए ।

समाधि विरोधी इन सूक्ष्म लौकिक संस्कारों के विनाश के वे उपाय हैं जो कि अविद्या, राग, द्वेष आदि क्लेशों के नाश के हैं। ये उपाय योगदर्शन के प्रथम व द्वितीय पाद में बताये गये हैं। जो कि तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, विवेक-वैराग्य-अभ्यास, प्राणायाम, जप इत्यादि हैं। इनके निरन्तर अनुष्ठान से ये संस्कार दग्धबीज की भाँति अंकुरित होने में असमर्थ हो जाते हैं ।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघःसमाधिः ॥२९॥

[प्रसंख्याने-अपि] विवेकख्याति प्राप्त हो जाने पर भी [अकुसीदस्य] (जो योगी सिद्धियों में) राग नहीं करता उसकी [सर्वथा] पूर्णरूप से [विवेकख्यातेः] विवेकख्याति उत्पन्न हो जाने से [धर्ममेघः समाधिः] धर्ममेघ नामक समाधि उत्पन्न हो जाती है ।

प्रकृति तथा पुरुष के पृथक्त्व का ज्ञान 'प्रसंख्यान' कहाता है। पुरुष में आत्मा तथा परमात्मा दोनों की गणना होती है। ईश्वर, जीव तथा प्रकृति इन तीन अनादि पदार्थों का ऊँचे स्तर का ज्ञान प्राप्त करते हुए, बीच में योगी को अनेक सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इन विशिष्ट सिद्धियों के प्रति यदि योगी का कोई राग-लगाव नहीं रहता है तो वह उत्कृष्ट ज्ञान-विज्ञान (= विवेक-ख्याति)

को प्राप्त करता है। इस उत्कृष्ट विज्ञान से वह 'धर्ममेघ' नामक (सम्प्रज्ञात) समाधि की ऊँची स्थिति को प्राप्त होता है। कुछ विद्वान् धर्ममेघ समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि मानते हैं। परन्तु योग सूत्र १-२ के व्यासभाष्य के अनुसार धर्ममेघ समाधि, सम्प्रज्ञात समाधि ही सिद्ध होती है।

तथा इस सूत्र में भी, धर्ममेघ समाधि का कारण, विवेक ख्याति को बतलाया गया है। विवेकख्याति सम्प्रज्ञात-समाधि का कारण है, अतः इस सूत्र से भी धर्ममेघ-समाधि, सम्प्रज्ञात-समाधि ही सिद्ध होती है। यदि यह असम्प्रज्ञात-समाधि होती तो सूत्र में इसकी प्राप्ति का उपाय परवैराग्य बतलाया गया होता, जैसा कि सूत्र १-१८ के व्यास भाष्य में बतलाया गया है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥३०॥

[ततः] उस धर्ममेघ नामक समाधि से [क्लेश-कर्म-निवृत्तिः] क्लेश तथा कर्मों की समाप्ति हो जाती है।

विवेकख्याति से धर्ममेघ समाधि सिद्ध हो जाने पर योगी के अविद्या, राग, द्वेष आदि पाँच क्लेश स्थूल-रूप से नष्ट हो जाते हैं। तथा उन अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न होने वाले सकाम पाप-पुण्य कर्मों की भी स्थूल रूप से समाप्ति हो जाती है। ऐसी अवस्था में योगी ईश्वर की आज्ञानुसार धर्मयुक्त कार्यों को निष्काम भावना से करता है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥३१॥

[तदा] अविद्या आदि क्लेशों तथा सकाम कर्मों के नष्ट हो जाने पर [सर्व-आवरण-मल-अपेतस्य] सब प्रकार के आवरण रूपी मल से रहित हुए [ज्ञानस्य] ज्ञान के [आनन्त्यात्] अत्यधिक हो जाने से [ज्ञेयम्] जानने योग्य वस्तु (विषय) [अल्पम्] थोड़ा (= सरल) हो जाता है।

स्थूलरूप से क्लेशों तथा सकाम कर्मों के विनाश के पश्चात् योगी का चित्त ज्ञान के बढ़ ज़ाने से अत्यधिक शक्तिशाली बन जाता है। ऐसे चित्त से योगी अतीव सहजता तथा शीघ्रता से जान लेता है कि किन किन अवस्थाओं में, संसार के पदार्थों के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न हो सकता है। यही उसका ज्ञेय विषय बचा हुआ होता है। ऐसे विषय को जानने की योग्यता, चित्त के अविद्या आदि मलों से रहित निर्मल=शुद्ध=सत्त्वगुणप्रधान होने से बनती है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।।३२।।

[ततः] उससे [कृतार्थानाम्] जिनका कार्य पूरा हो चुका है, उनकी [परिणाम-क्रम-समाप्तिः] परिणाम के क्रम की समाप्ति (हो जाती है) [गुणानाम्] गुणों की ।

धर्ममेघ समाधि के उत्पन्न होने के पश्चात् परवैराग्य उत्पन्न होता है, परवैराग्य के अनन्तर असम्प्रज्ञात समाधि लगती है । असम्प्रज्ञात समाधि से चित्त पर बने समस्त अविद्या जनित संस्कारों का नाश हो जाता है । तब सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों का प्रयोजन (= जीवात्मा को भोग तथा अपवर्ग प्राप्त कराना) समाप्त हो जाता है । ये गुण अब ऐसे जीव के प्रति नये शरीर की उत्पत्ति नहीं करते । परिणाम स्वरूप वह योगी मुक्त हो जाता है ।

'क्रम' शब्द का तात्पर्य क्या है ? यह अगले सूत्र में बताया जा रहा है–

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ।।३३।।

[क्षण-प्रतियोगी] क्षण का अनुसरण करने वाला [परिणाम-अपरान्त-निर्ग्राह्यः] परिणाम की समाप्ति पर जिसका ग्रहण होता है (वह) [क्रमः] क्रम है ।

काल के सबसे छोटे भाग को 'क्षण' कहते हैं । एक क्षण के पीछे दूसरे क्षण का आना 'क्रम' कहलाता है । क्षणों के इस क्रम के कारण उत्पन्न हुई हुई वस्तुएँ पुरानी होती हैं, और अन्ततः नष्ट हो जाती हैं । जैसे एक नया वस्त्र दृढ़ तथा स्थिर दिखाई देता है, समय बीतने पर वह वस्त्र पुराना, शिथिल दिखाई देने लगता है । वर्षों के व्यतीत होने पर वस्त्र के धागे टूट-टूट कर अलग हो जाते हैं । यह परिणाम, क्रम का ही फल है ।

पूर्व सूत्र में जो परिणाम क्रम का कथन किया गया है वह परिणाम की समाप्ति से गृहीत होता है । अर्थात् जब गुणों का परिणाम (नये नये शरीरों की उत्पत्ति) होना बन्द हो जाता है, तो एक शरीर के बाद दूसरे शरीर की उत्पत्ति होना रूप क्रम भी समाप्त हो जाता है, यही इस सूत्र का अभिप्राय है ।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।।३४।।

[पुरुषार्थ-शून्यानाम्] जीवात्मा के प्रयोजन से रहित हुए [गुणानाम्] गुणों का [प्रतिप्रसवः] कारण में लीन हो जाना [कैवल्यम्] मुक्ति है [स्वरूप-प्रतिष्ठा

वा] अथवा अपने स्वरूप में स्थिति [चितिशक्तिः] आत्मा (की हो जाना कैवल्य है) [इति] यह शास्त्र समाप्त होता है ।

आत्मा के प्रयोजन भोग और अपवर्ग दो हैं । इसी को सूत्र में 'पुरुषार्थ' शब्द से कहा गया है । सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों (= प्रकृति) के परिणाम (= कार्य पदार्थ) जीवात्मा के पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए होते हैं । जो जीवात्मा असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर, सम्पूर्ण अविद्या को नष्ट कर लेता है, वह जीव मुक्त हो जाता है । इस आत्मा के लिए पुरुषार्थ (= भोग और अपवर्ग) का कार्य पूरा कर लेने के कारण सत्त्व आदि गुणों का कोई कार्य शेष नहीं रहता अर्थात् जो कार्य उन्हें करना था, वे कर चुके और वे अपनी कारण अवस्था में लौट आते हैं, इसी का नाम कैवल्य है ।

मोक्ष अवस्था में जीवात्मा ईश्वर के साथ रहकर सर्वत्र स्वेच्छानुसार विचरण कर सकता है और ईश्वर के दिव्य आनन्द का उपभोग भी करता है । महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने अपने ग्रन्थ **सत्यार्थ प्रकाश** के ९ वें समुल्लास में इस मोक्ष की अवधि ३६००० बार सृष्टि की उत्पत्ति व प्रलय के समय के बराबर लिखी है । एक बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का समय दोनों मिलाकर ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष होता है । इस प्रकार ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष को ३६००० से गुणा करने पर ३१ नील, १० खरब और ४० अरब मानव वर्ष का समय बनता है । इतने काल तक जीवात्मा किसी भी प्रकार का कोई भी दुःख नहीं भोगता । मोक्ष की अवधि पूरी होने पर, अपने अवशिष्ट कर्मों का फल भोगने के लिए और पुनः मोक्ष की प्राप्ति के लिए, फिर संसार में मनुष्य जन्म धारण करता है ।

इति चतुर्थः पादः

इति योगदर्शनस्य द्वितीयभागः

ओ३म्

योगादेव तु कैवल्यम्

दर्शन योग महाविद्यालय

वैदिक दर्शन अध्यापन एवं योग प्रशिक्षण का आदर्श संस्थान

संक्षिप्त परिचय

आर्य वन विकास क्षेत्र, रोजड़,पत्रालय : सागपुर, जि. साबरकांठा, गुजरात
पिन : ३८३३०७. दूरभाष : (०२७७४) ७७२१७

स्थापना : दर्शन योग महाविद्यालय की स्थापना चैत्र शुक्ला प्रतिपदा विक्रम संवत २०४३ (१० अप्रैल १९८६) को श्री स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक द्वारा हुई ।

उद्देश्य

(१) महर्षि पतंजलि प्रणीत अष्टाङ्गयोग की पद्धति से उच्च स्तर के योग-प्रशिक्षकों को तैयार करना, जो देश-विदेश में प्रचलित मिथ्यायोग के स्थान पर सत्य योग का प्रशिक्षण दे सकें ।

(२) विशिष्ट योग्यता वाले वैदिक-दार्शनिक विद्वानों का निर्माण करना जो सार्वभौमिक युक्तियुक्त, अकाट्य, वैज्ञानिक, शाश्वत, वैदिक सिद्धान्तों का, बुद्धिजीवी वर्ग के समक्ष प्रभावपूर्ण शैली से प्रतिपादन करके, उनकी नास्तिकता मिटाकर उन्हें वैदिक धर्मानुयायी बना सकें ।

(३) निष्काम भावना से युक्त, मनसा-वाचा-कर्मणा एक होकर तन, मन और धन से सम्पूर्ण जीवन की आहुति देने वाले व्यक्तियों का निर्माण करना, जो अपनी और संसार की अविद्या, अधर्म तथा दुःखों का विनाश करके उसके स्थान पर विद्या, धर्म तथा आनन्द की स्थापना कर सकें ।

प्रवेश के लिये योग्यता

- प्रवेश केवल ब्रह्मचारियों के लिए (आजीवन ब्रह्मचारियों को प्राथमिकता),
- समर्पित भावना से युक्त होकर पूर्ण अनुशासन में रहना,
- वैदिक सिद्धान्तों में निष्ठा होना,
- योगाभ्यास तथा दर्शनों के अध्ययन में रुचि होना,
- संस्कृत भाषा पढ़ने, लिखने, बोलने में समर्थ होना (व्याकरणाचार्य, शास्त्री या समकक्ष योग्यता वालों को प्राथमिकता),

- यम-नियमों का श्रद्धा पूर्वक पालन करना,
- निष्काम भाव से समाज-राष्ट्र की सेवा का संकल्प होना,
- त्यागी, तपस्वी, सदाचारी होना,
- अध्ययन काल में घर से या स्वजनों से सांसारिक सम्बन्ध न होना,
- अवस्था १८ वर्ष से अधिक होना,

विशेष

प्रवेश लेने वाले ब्रह्मचारियों का तीन मास तक बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक परीक्षण किया जाता है। ब्रह्मचारी के योग्य सिद्ध होने पर ही स्थाई प्रवेश दिया जाता है।

संस्थान की विशेषताएँ

(१) प्रत्येक ब्रह्मचारी को पक्षपात रहित (=समान रूप से) भोजन, वस्त्र, दूध, घी, फल, पुस्तक, आसन आदि सभी वस्तुएँ निःशुल्क प्राप्त हैं।

(२) प्रतिदिन कम से कम दो घण्टे व्यक्तिगत योगाभ्यास (ध्यान) करना अनिवार्य है।

(३) प्रतिदिन क्रियात्मक योग प्रशिक्षण, (जिसमें विवेक, वैराग्य, अभ्यास, ईश्वरप्रणिधान, मनोनियंत्रण, ध्यान, समाधि, तथा स्वस्वामिसम्बन्ध = (ममत्व) को हटाना, इत्यादि आध्यात्मिक सूक्ष्म विषयों पर विस्तार से विवेचन) किया जाता है।

(४) यम-नियमों का मनसा, वाचा, कर्मणा, सूक्ष्मता से पालन कराया जाता है।

(५) दिन में ६ घण्टे का मौन रहता है, (जिसमें ध्यान-स्वाध्याय आदि सम्मिलित हैं)।

(६) रात्रि में आत्मनिरीक्षण होता है। (जिसमें दिन भर के दोषों का सबके समक्ष ज्ञापन तथा भविष्य में सुधार हेतु प्रयत्न किया जाता है)।

(७) वार्तालाप का माध्यम संस्कृत भाषा है।

(८) प्रतिदिन यज्ञ, वेद पाठ तथा वेदमन्त्र का स्वाध्याय होता है।

(९) सप्ताह में एक बार आसन-प्रशिक्षण तथा पक्ष (=१५ दिन) में एक बार व्याख्यान प्रशिक्षण होता है।

(१०) दर्शनों की लिखित एवं मौखिक परीक्षाएँ ली जाती हैं।

(११) प्रातः काल ४ बजे से रात्रि ९-३० बजे तक आदर्श एवं व्यस्त गुरुकुलीय दिनचर्या है।
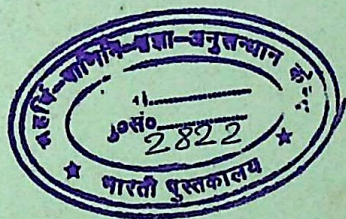
❖ मुख्य वितरक ❖

आर्य रणसिंह यादव

द्वारा-डॉ. सद्गुणा आर्या

'सम्यक्',

गांधीग्राम, जूनागढ़-३६२००१ (गुजरात)